

हिंदू-राष्ट्रवाद की अहिंसा-भीति



सावरकर और हिंसा की पक्षधरता

ज्योतिर्मय शर्मा

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

पुरुषत्व का लोप एक ऐसी विषयस्तु है जो भारत के राष्ट्रवादी विमर्श में उन्नीसवीं शताब्दी से ले कर आज तक मौजूद रही है। शुरू में इसके जरिये उपनिवेशीकरण की परिघटना को समझने की कोशिश की गयी थी, पर आज यह वास्तविक और कल्पित शत्रुओं के विरुद्ध की जाने वाली बदले की हिंसा को व्याख्यायित करने और उसे जायज़ ठहराने का औज़ार बन चुकी है। हिंसा को वैधता प्रदान करने का यह ढर्रा आज भी जस का तस है। आज भी यह मान्यता बनी हुई है कि हिंदू¹ निर्बल और कोमल स्वभाव के हो गये थे; उनमें प्रतिशोध लेने या स्वयं की रक्षा करने की क्षमता खत्म हो गयी थी लिहाज़ा उन्हें गुलामी, अपमान और शाश्वत अधीनस्थता का अभिशाप झेलना पड़ा। यही वजह है कि लगभग सभी राष्ट्रवादी चिंतकों ने इसे अपना एक निजी उत्तरदायित्व मान लिया कि भारत की जनता को पुरुषत्व की भावना से कैसे लैस किया जाए। स्वामी विवेकानंद जैसे धार्मिक-राष्ट्रवादी की नज़र में उन्नीसवीं सदी का भारत स्त्रियों और हिजड़ों का देश बन गया था। इसलिए उन्होंने भारत के लोगों में पुरुषत्व की भावना विकसित करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। विवेकानंद की तरह अन्य राष्ट्रवादी भी पुरुषत्व की इस भावना को क्षत्रिय जाति की युयुत्सु प्रवृत्ति से जोड़ कर देखते थे। उन्होंने क्षत्रियों के इस आदर्श और क्षत्रिय को हिंसा का एक सर्वव्यापी और सुलभ संस्करण बना डाला। जनता से जड़ता और प्रमाद त्याग कर इस क्षत्रिय आदर्श पर चलने का आह्वान किया जाने लगा। पुरुषत्व की पुनः प्रतिष्ठा के इन उद्बोधनों को ज़मीन पर उतारने के लिए यह लाज़िमी था कि राष्ट्रवादी चिंतक अपने भाष्यकारों को उन कारणों की सूची भी थमाते जिनके चलते देश की पूरी जनता स्त्रैणता और नपुंसकता के गर्त में जा गिरी थी। इस सूची में संस्कृत के पतन के कारण वैदिक ज्ञान की विलुप्ति, जाति-व्यवस्था के निरंतर क्षय और मुसलमान शासकों सहित उन तमाम बाहरी शक्तियों का उल्लेख था जिन्होंने भारत पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया था।

लेकिन, निरंतर गहराते पतन की इस कहानी में एक आख्यान अलग से ध्यान खींचता है। इसका दावा है कि बुद्ध और उनकी अतिशय अहिंसा ने हिंदुओं को निर्बल बनाकर भारत का बेड़ा ग़र्क़ कर दिया। हालाँकि इस मत से हरेक धार्मिक राष्ट्रवादी सहमत रखता था, लेकिन हिंदू राष्ट्रवादी चिंतन में सबसे अतिवादी और कट्टर विचारधारा के पैरोकार विनायक दामोदर सावरकर तो इस हद तक चले गये कि उन्होंने इस प्रसंग में बुद्ध पर दो नाटक ही लिख डाले। इनमें विस्तार से बताया गया कि भारत को गुलाम बनाने तथा हिंदुओं को स्त्रैणता और हिजड़ों की स्थिति में पहुँचाने के लिए बुद्ध किस तरह उत्तरदायी हैं। उनके द्वारा रचित दो नाटकों— *बोधिवृक्ष* (अपूर्ण) तथा *संगीत संन्यस्त खड्ग* (आगे इन दोनों रचनाओं को हम क्रमशः उनके संकेताक्षरों—बोवू और संसंख से इंगित करेंगे) का कथानक बुद्ध की करुणा तथा अहिंसा विषयक शिक्षाओं और हिंदुओं पर इन शिक्षाओं के विनाशकारी प्रभावों पर आधारित है। ये नाटक जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे यह साफ़ होने लगता है कि बुद्ध द्वारा लोगों से उनका पराक्रम और साहस छीनने की बात दरअसल युयुत्सु हिंदू राष्ट्रवाद के लिए एक आधारभूत तर्क ढूँढ़ने का बहाना है।

संगीत संन्यस्त खड्ग (संसंख) दो अंतर-संबंधित कथानकों पर आधारित है। इसके आख्यान में संन्यास² का विचार बड़ी प्रमुखता से उभरता है। इस विचार के साथ अहिंसा को ख़ारिज करने और प्रतिहिंसा के महिमा-मण्डन का आग्रह बड़ी नज़दीकी से गुँथा गया है। हालाँकि सावरकर का अपूर्ण नाटक *बोधिवृक्ष* भी इसी विषय पर केंद्रित है; उसमें भी संन्यास के विचार को प्रशंस्कित किया गया

¹ अधिकांश राष्ट्रवादी चिंतक हिंदू की संज्ञा और भारतीयता का घालमेल करते थे. वे दोनों शब्दों को एक-दूसरे के पर्याय या अक्सर विकल्प के तौर पर इस्तेमाल करते थे.

² बुद्ध के ब्रह्मचर्य पर आधारित संन्यास को बाद में ब्राह्मण धर्म के घरेलू दायरे में समाहित कर लिया गया था. लिहाज़ा बुद्ध के संन्यास को संन्यास की ब्राह्मणवादी अवधारणा से पृथक् करने के लिए मैंने उसके लिए गृह-त्यागी संन्यासी और उनकी स्थिति को इंगित करने के लिए गृह-त्यागी संन्यास का प्रयोग किया है. इन प्रत्ययों के प्रयोग से संबंधित चर्चा के लिए देखें, पैट्रिक ऑल्लिवेल (2012).



है, परंतु उसमें हिंसा या अहिंसा का प्रश्न लगभग छोड़ दिया गया है।³ संन्यास के विषय में *बोधिवृक्ष* न केवल इस परम्परा के एक आधारभूत तत्त्व पर असामान्य ढंग से बल देता है, बल्कि उसे वैदिक कर्मकाण्ड और ब्राह्मणवादी नीतिशास्त्र के शाश्वत विरोध में भी खड़ा कर देता है। यह तत्त्व था गृहत्यागी संन्यासी की ब्रह्मचर्य के प्रति वचनबद्धता!

बोधिवृक्ष (बोवृ) का प्रारम्भ राजकुमार सिद्धार्थ की पत्नी यशोधरा से होता है। वह सीता के वनवास और उर्मिला की दशा के बीच तुलना कर रही है। यशोधरा कहती है कि सीता तो राम के साथ वन को चली गयी, लेकिन लक्ष्मण उर्मिला को छोड़ कर अपने भाई के साथ हो लिया। इस निर्णय का कारण यह था कि लक्ष्मण को अचानक यह महसूस हुआ कि उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।⁴ यशोधरा का मानना है कि दाम्पत्य-जीवन में किसी एक साथी को यह अधिकार नहीं होता कि वह एकतरफा तौर पर ब्रह्मचर्य का संकल्प कर बैठे। ऐसे निर्णय विवाह करने से पहले लिए जाने चाहिए। दुनिया में अक्सर अंतर्द्वंद्व, तनाव और कष्टों की बात करने वाले सिद्धार्थ की बातें सुनकर यशोधरा को भय लगता है कि कहीं वह भी ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर और संन्यास का मार्ग धारण करके *श्रमण* का जीवन व्यतीत न करने लगे। दूसरी तरफ संसंख के प्रारम्भिक दृश्यों में लम्पट और भ्रष्ट ब्राह्मण शाकमभट्ट बुद्ध के ब्रह्मचर्य संबंधी सिद्धांत का खुले तौर पर मानमर्दन करता दिखाया गया है।⁵ वह बुद्ध द्वारा सांसारिक सुखों— शुरुआती तीस वर्षों तक अनेक स्त्रियों के साथ बिताए गये भोग-विलासपूर्ण जीवन के परित्याग पर व्यंग्य कसता है। इस आशंका से भयभीत होकर कि कहीं सिद्धार्थ गौतम के संन्यास को गृहस्थजनों की महत्ता कम करने का आधार न बना लिया जाए, शाकमभट्ट यह संदेह भी व्यक्त करता है कि अंततः तथाकथित बुद्ध यशोधरा के पास लौट आएंगे।

³ इस प्रसंग का केवल एक संक्षिप्त वर्णन ही प्राप्त होता है जिसमें बताया गया है कि राजा की आकांक्षा किस तरह मेहनतकश मजदूरों का खून पीने वाले राक्षस के समान होती है, और राजा का रत्नजड़ित मुकुट केवल इस खून को पीने का एक बर्तन भर होता है। *बोधिवृक्ष* में इन शब्दों का प्रयोग सिद्धार्थ द्वारा, बुद्धत्व की प्राप्ति से पहले, किया गया है। विनायक दामोदर सावरकर (2000-03) : 169.

⁴ *संगीत संन्यस्त खड्ग* (इसके बाद, संसंख), विनायक दामोदर सावरकर (200-03) : 152-53. लक्ष्मण और उर्मिला का दृष्टांत थोड़ा भ्रामक है। इसका कारण यह नहीं है कि लक्ष्मण ने अपनी पत्नी का ध्यान न करके अपने भाई और भाभी के साथ चौदह साल के वनवास का निर्णय लिया था। यह उदाहरण इसलिए भ्रामक है क्योंकि वाल्मीकि की रामायण में उर्मिला का उल्लेख केवल दो पदों (1.72.18 तथा 7.92.2) में मिलता है। हम जानते हैं कि लक्ष्मण का उर्मिला से विवाह हुआ था और इस संबंध से संतान भी उत्पन्न हुई थी लेकिन उर्मिला के विषय में और कोई जानकारी नहीं मिलती। बाद में उर्मिला की उपस्थिति साहित्य में ज्यादा दर्ज हुई। इस संबंध में तेलुगु स्त्रियों के गीतों तथा मैथिलीशरण गुप्त की कृति *साक्रेत* का उल्लेख किया जा सकता है। देखें, वेलचेरु नारायण राव (1991) : 114-136. यह भी देखें, आर.पी. गोल्डमैन (1980) : 149-189.

⁵ *सावरकर समग्र* : 203-204.

शाकमभट्ट की यह कटुक्ति इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह ब्रह्मचर्य यानी यौन-संयम के प्रश्न को संन्यास के आदर्शों और गृहस्थ जीवन में निहित मूल्यों के आपसी टकराव में बदल देती है। नाटक के घटनाक्रम में इन अंतर्विरोधी तत्त्वों का टकराव गृहस्थ जीवन के महिमा-मण्डन पर जाकर ख़त्म होता है। उदाहरण के लिए, संसंख में दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में शाक्य सेना के पूर्व सेनापति लेकिन पिछले चालीस वर्षों से एक बौद्ध भिक्षुक का जीवन व्यतीत कर रहे विक्रम सिंह, अपने पुत्र वल्लभ को एक चिट्ठी लिखते हैं।⁶ वल्लभ को सेनापति के पद पर पहुँचने की बधाई देते हुए विक्रम सिंह इस बात पर भी खुशी ज़ाहिर करते हैं कि उसके बेटे ने सुलोचना से प्रेम-विवाह कर लिया है। इस चिट्ठी में इंद्रियानुभूतियों की बड़े विस्तार से चर्चा की गयी है। विक्रम का कहना है कि ऐंद्रिक अनुभूतियों का दमन करना इंद्रियों पर विजय पाना नहीं है। उसके अनुसार ऐंद्रिक अनुभूतियाँ देह के प्राकृतिक कार्यों का अंग होती हैं तथा ऐसे कार्यों में दैहिक अनुभूतियों की भूमिका सहज सहयोगी की होती है। इसलिए दाम्पत्य संबंधों का धुर परित्याग करना कोई महान् कार्य नहीं है, इसी तरह सांसारिक वासनाओं से निरपेक्ष या असम्पृक्त रहने का दावा करने वाले लोग भी अनिवार्य रूप से संन्यासी नहीं बन जाते—सभी गृहत्यागी संन्यासी भौतिक आसक्तियों का अतिक्रमण नहीं कर पाते। अगर बुद्ध जैसा कोई महात्मा या पवित्र आत्मा गृहस्थ जीवन का परित्याग न करता, तो भी वह सांसारिक आकर्षणों पर विजय पा लेता और इससे उसकी लोक-प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आती।

इस प्रकार, संन्यास और गृहस्थ जीवन की संस्था में किसी गुणात्मक अंतर को ख़ारिज करते हुए विक्रम सिंह ने अपने बेटे वल्लभ को मशविरा दिया कि वह अपने दाम्पत्य जीवन का अकुंठ भाव से उपभोग करते हुए इस जीवन के नियमों का समुचित रीति से निर्वाह करे। इसका अभिप्राय: स्पष्ट है कि वल्लभ की पत्नी बलशाली और प्रतापी संतानों को जन्म दे। विक्रम अपने पुत्र के सामने यह भी स्पष्ट करते हैं कि उसे न केवल दाम्पत्य जीवन का सुख भोगना चाहिए बल्कि उसे यह बात भी याद रखनी चाहिए कि उसे पिता की तलवार (खड्ग) दुष्टों को दण्डित करने और जनता के कल्याणार्थ सौंपी गयी है। विक्रम का कहना है कि वही जीवन त्यागपूर्ण जीवन होता है जिसमें गृहस्थ जीवन के सुख उसके पैरों की बेड़ियाँ न बनकर एक 'उत्सर्गपूर्ण जीवन के यज्ञ में आहुति की भाँति काम करें।' ⁷ सद्गृहस्थ द्वारा जिया गया ऐसा जीवन संन्यास जितना ही पवित्र होता है। इस बिंदु पर पहुँच कर विक्रम सिंह एक नयी बात कहते हैं : सांसारिक सुख से परिपूर्ण गृहस्थ जीवन यज्ञ में दी गयी आहुति के समान होता है, और ऐसा जीवन संन्यास तथा परित्याग की तुलना में ज्यादा सार्थक होता है।

उपसंहार तक पहुँचते-पहुँचते संसंख नाटक संन्यासी के ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन के खण्डन बनाम गृहस्थ जीवन के महात्म्य से निकल कर एक पूरी तरह नये आयाम की चर्चा करने लगता है। सावरकर के पात्रों के लिए गृहस्थ जीवन तथा संन्यासी-जीवन अथवा सैनिक और संन्यासी के बीच गृहस्थ/सैनिक को अगर श्रेष्ठतर नहीं तो समतुल्य दर्शाना काफ़ी नहीं था। विक्रम अपनी पुत्र-वधू सुलोचना से बात करते हुए (तीसरा अंक, छठा दृश्य) इस बात पर जोर देते हैं कि कामचर्या अर्थात् सुख का संधान ब्रह्मचर्य के संकल्प से लेशमात्र भी कम पवित्र नहीं है। दरअसल, सावरकर के पात्रों पर यह सिद्ध करने की ज़िम्मेदारी है कि संन्यास और ब्रह्मचर्य का औघड़ जीवन तथा सुखपूर्ण जीवन का संधान समान धरातल की बातें हैं।

बोवू और संसंख के पात्र केवल संन्यासी के ब्रह्मचर्य पक्ष का ही उपहास नहीं करते। संन्यास के प्रति सावरकर का संशय इससे कहीं ज्यादा गहरा है। मसलन, बोधिवृक्ष के एक दृश्य पर ध्यान दें⁸: राजकुमार

⁶ वही : 238-239.

⁷ वही : 238-239.

⁸ वही : 170.

सिद्धार्थ एक भगवा-वेषधारी संन्यासी को देख कर उससे पूछता है कि क्या वह उससे अपने कपड़े बदल सकता है। भगवा कपड़े पहने यह व्यक्ति असल में आखेटक है। सिद्धार्थ उससे बार-बार कपड़े बदलने की प्रार्थना करते हैं, परंतु वह लगातार मना करता रहता है। आखेटक कहता है कि एक असावधान हिरण का आखेट करने के लिए संन्यासी का वेष बहुत कारगर होता है। उसका यह वेष छल की एक युक्ति के रूप में काम करता है। इसलिए राजकुमार को अपने कपड़े देकर वह अपना प्रतिस्पर्धी पैदा नहीं करना चाहता।

सिद्धार्थ कहता है कि दरअसल वह भी एक आखेटक ही है जो मृत्यु का आखेट कर रहा है। सिद्धार्थ आखेटक से कहता है कि भगवा धारण करना आखेटक और सांसारिक वस्तुओं से निस्पृह व्यक्ति, दोनों के लिए ही उपयोगी होता है। उसे धारण करने से हतबुद्धि मृत्यु जाल में फँस जाती है। आखेटक को यह नहीं पता था कि सिद्धार्थ कौन है, लेकिन उसके द्वारा मृत्यु पर विजय पाने की बात सुनकर आखेटक को याद आता है कि शाक्य वंश का राजकुमार भी इसी प्रकार की बातें करता है। इस तथ्य से अनभिज्ञ वह राजकुमार ठीक उसी के सामने खड़ा है, आखेटक कहता है कि वह राजकुमार एक मूढ़मति आदमी है। वह सिद्धार्थ से कहता है कि उसका आखेटक से भगवा कपड़े माँगना यह दर्शाता है कि दुनिया में केवल शाक्य वंश का राजकुमार ही नहीं बल्कि लोगों की एक बड़ी जमात ही पागल हो गयी है।

संसंख्र में संन्यास के प्रति यह शत्रुता बुद्ध के पिता शुद्धोधन तथा उसके सेनापति विक्रम सिंह के वार्तालाप से शुरूआती पन्नों में ही प्रकट हो जाती है।⁹ इस वार्तालाप का संदर्भ यह है कि बुद्ध ज्ञान-प्राप्ति के बाद कपिलवस्तु लौटे हैं। विक्रम द्वारा इस खबर की पुष्टि की जाती है कि विभिन्न राजाओं सहित हजारों लोग बुद्ध के अनुयायी बन गये हैं। वे बुद्ध के इस सिद्धांत के प्रति विरोध प्रकट करते हैं कि सब कुछ को त्याग कर संन्यासी बना जा सकता है। उनकी दलील है कि हजारों लोगों को संन्यास की दीक्षा देना जनकल्याण के आदर्श को अपूरणीय क्षति पहुँचाना है। लेकिन, संन्यास की परम्परा के आदर्श और संस्था पर इससे कहीं ज्यादा एकाग्र आक्रमण बुद्ध और विक्रम के बीच होने वाले लम्बे वार्तालापों में दिखाई देता है। बुद्ध और विक्रम का पहला लम्बा वार्तालाप पहले अंक के तीसरे दृश्य में मिलता है।¹⁰ इस दृश्य में बुद्ध अपने शिष्यों के साथ बैठे हैं और बुद्ध व विक्रम में संवाद चल रहा है।

संवाद के आरम्भ में बुद्ध विक्रम सिंह को न केवल महान सैनिक बताते हैं, बल्कि उसे ज्ञानी भी घोषित करते हैं। बुद्ध कहते हैं कि विक्रम सिंह ने यह ज्ञान यज्ञ, दानशीलता, तपस्या तथा समर्पण द्वारा अर्जित किया है। बुद्ध का कहना था कि विक्रम एक योगी की तरह सोचते हैं और उन्होंने जगत की

लगभग सभी राष्ट्रवादी चिंतकों ने इसे अपना एक निजी उत्तरदायित्व मान लिया कि भारत की जनता को पुरुषत्व की भावना से कैसे लैस किया जाए। स्वामी विवेकानंद जैसे धार्मिक-राष्ट्रवादी की नज़र में उन्नीसवीं सदी का भारत स्त्रियों और हिजड़ों का देश बन गया था। इसलिए उन्होंने भारत के लोगों में पुरुषत्व की भावना विकसित करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। विवेकानंद की तरह अन्य राष्ट्रवादी भी पुरुषत्व की इस भावना को क्षत्रिय जाति की युयुत्सु प्रवृत्ति से जोड़ कर देखते थे। उन्होंने क्षत्रियों के इस आदर्श और क्षत्रिय को हिंसा का एक सर्वव्यापी और सुलभ संस्करण बना डाला।

⁹ वही : 206.

¹⁰ वही : 220-225.

प्रकृति के यथार्थ को सम्यक आचरण के जरिये जाना है। लेकिन, अब वह समय आ गया है कि शाश्वत सत्य तथा उसके सिद्धांतों का प्रसार करने के लिए उन्हें बुद्ध के साथ खड़ा होना चाहिए। यह एक ऐसा समय है जब स्वर्ग के साथ-साथ पूरी दुनिया कामना और वासनाओं की अग्नि में जल रही है। अस्तित्व की अर्थहीनता, शून्यता और व्यर्थता को समझ लेने के बाद कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति संसार के प्रति अन्यमनस्क हो कर उसे छोड़ने के बारे में सोचने लगता है। बुद्ध को यह सोच कर ताज्जुब होता है कि विक्रम जैसी निष्काम मेधा का व्यक्ति सैनिक के पेशे के साथ, जिसमें हत्या और कपट करना पड़ता है, कैसे इस दुनिया में रह पा रहा है। बुद्ध विक्रम से आग्रहपूर्वक कहते हैं कि उन्हें संन्यास का संकल्प लेकर भिक्षाटन करने वाले संन्यासियों में शामिल हो जाना चाहिए।

लेकिन बुद्ध के इस प्रस्ताव के प्रत्युत्तर में विक्रम का कहना है कि जिस तरह कोई व्यक्ति रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्यु जैसी व्याधियों का शमन करके निर्वाण प्राप्त करता है, उसी तरह मैंने भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है। परंतु मैं आज भी एक सैनिक ही हूँ। ज्ञान-प्राप्ति के इन दो रूपों की साझी कड़ी यह है कि ज्ञानी के दोनों प्रारूपों को अंततः अपनी देह में ही निवास करना पड़ता है। निर्वाण की प्राप्ति हो या कामनाओं से रिक्त हो जाना— इन दोनों से ही भौतिक शरीर का अंत नहीं हो जाता या इससे यह देह मरीचिका की तरह अदृश्य नहीं हो जाती। ज्ञान की प्राप्ति के बाद शरीर को बलात् नष्ट कर देना उचित नहीं होता क्योंकि अंततः बुद्धत्व के पश्चात् भी व्यक्ति को अपनी देह में ही वास करना पड़ता है।¹¹ मृत्यु के आगमन तक ज्ञानियों को भी सांसारिक कार्यों का निर्वाह करना ही पड़ता है। लिहाजा, बुद्ध जैसे व्यक्ति को भी, जिसने निर्वाण जैसा आनंद प्राप्त कर लिया है, प्रवचन, पक्ष-पोषण, सांगठनिक गतिविधियों और वाद-विवाद जैसे जंजालों का सहारा लेना पड़ता है ताकि निर्वाण की सिद्धि से अन्य लोग भी लाभान्वित हो सकें।

इस वार्तालाप में सावरकर इस बात को लेकर मुस्तैद हैं कि बुद्ध के प्रत्युत्तर कमजोर और आधे-अधूरे दिखाई दें, ताकि विक्रम को संन्यास की व्यर्थता सिद्ध करने का मौक़ा लगातार मिलता रहे। इस उदाहरण में भी बुद्ध विक्रम के इस तर्क से तुरंत सहमत हो जाते हैं कि देह को नष्ट करना कोई समाधान नहीं है क्योंकि इससे कर्म का बंधन और सुदृढ़ हो जाएगा और व्यक्ति को पुनः पुनर्जन्म की प्रक्रिया से गुजरना पड़ेगा। बुद्ध कहते हैं कि वे इस बात के विरुद्ध रहे हैं कि निर्वाण की प्राप्ति के लिए देह को कष्ट दिया जाए। इसके बजाय उन्होंने मध्यम मार्ग पर बल दिया है। इस बिंदु पर भी नाटक में यह स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया गया है कि बुद्ध के मध्य मार्ग के प्रमुख तत्त्व क्या हैं। इसकी जगह बुद्ध यह कहते हैं कि दैहिक तपस्या का सम्यक् आशय देह को रोग से मुक्त रखना और उसे जन-सेवा के लिए समर्पित करना है। शब्दों की एक विकट उलटबांसी करते हुए बुद्ध करुणा को 'मुक्ति का आराध्य' घोषित कर देते हैं। वे कहते हैं कि संन्यासी का वास्तविक परिवार 'दुखियारे लोगों पर निर्वाण का अमृत छिड़कने' की करुणा से प्रेरित रहता है।¹²

दरअसल, बुद्ध का यह कथन कि करुणा ही संन्यासी का 'वास्तविक परिवार' होती है, विक्रम को संन्यास की और भर्त्सना करने का मौक़ा देना है। विक्रम द्वारा स्पष्ट किया जाता है कि संन्यासी भी

¹¹ सावरकर देह के प्रति संन्यासी के भाव की ग़लत व्याख्या करते हैं। इस संबंध में उनका दृष्टिकोण ब्राह्मणवाद के एक निश्चित संस्करण से प्रभावित है जिसमें देह को विशेष महत्त्व प्रदान करते हुए कहा गया है कि उसे अशुद्धियों से बचाने के लिए निरंतर चेष्टावान रहना पड़ता है। इसके विपरीत संन्यासी देह को निरर्थक मान कर चलता है। वह देह की अक्सर घर से तुलना करता है और घर छोड़ने के साथ गृहस्थ द्वारा निभाई जाने वाली समस्त सामाजिक मूल्य-मान्यताओं का भी त्याग कर देता है, जिससे यह पता चलता है कि वह सामाजिक मूल्यों का वास्तविक और प्रतीकात्मक, दोनों स्तरों पर परित्याग कर चुका है। देखें, पैट्रिक ऑलिवेल (2012) : 101-125. यह भी देखें, डेविड शुल्मैन (1984) : 11-55. भारत की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में देह, शुद्धता तथा अशुद्धता का जायजा लेने के लिए देखें, जॉन बी. कार्मन एवम् फ्रेडेरिक मार्गलिन (1985). गहन सैद्धांतिक चर्चा के लिए देखें, मैरी डगलस (1994, पुनर्मुद्रित); पीटर एल. बर्जर (1990).

¹² सावरकर समय, खण्ड 4, : 221.

परिवार में रहते हैं और गृहस्थ का जीवन जीते हैं,¹³ भले ही इसके पीछे परोपकार की भावना सक्रिय रहती हो। ज्ञान के शिखर पर खड़ा संन्यासी हो या एक सजग गृहस्थ— जीवन के सामान्य कामधंधों और जीविका के लिए दोनों को प्रयत्न करना पड़ता है: दोनों में कुल अंतर इतना होता है कि गृहस्थ घर के परिवेश में रहता है और संन्यासी किसी मठ में। बुद्ध इस कथन से मोटे तौर पर सहमत नज़र आते हैं कि कामनाओं से मुक्त व्यक्ति परोपकार की भावना पर चल कर लोगों के सांसारिक कष्ट दूर करने का उपाय कर सकता है। इससे प्रोत्साहित होकर विक्रम द्वारा यह प्रश्न खड़ा किया जाता है कि फिर संन्यास के आदर्श की ज़रूरत ही क्या है। इसके बाद विक्रम घोषणा के लहजे में कहते हैं कि संन्यास-आश्रम और गृहस्थ-आश्रम के बीच कुल अंतर यह है कि संन्यासी कामिनी अर्थात् स्त्री की संगत या उसके यौन-संपर्क; न केवल खेती बल्कि जीवन को सम्बल प्रदान करने वाली हर गतिविधि तथा युद्ध जैसे उचित अवसर पर भी कृपाण अर्थात् तलवार से विमुख रहना चाहता है। नाटक में दिखाया गया है कि बुद्ध विक्रम द्वारा प्रस्तुत संन्यासी और गृहस्थ का यह अंतर स्वीकार कर लेते हैं। इससे उत्साहित होकर विक्रम द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि एक सजग और सुविज्ञ गृहस्थ व्यक्ति संन्यासी के मुकाबले हर काम बेहतर ढंग से कर सकता है।

इसके बाद विक्रम द्वारा बुद्ध के संघ की खबर ली जाती है। वे बुद्ध की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने लोगों को संघ की दीक्षा देते समय उनकी पात्रता का ध्यान नहीं रखा। विक्रम बुद्ध के आठ वर्षीय पुत्र राहुल का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि क्या इतना अबोध बालक संसार और संन्यास का अंतर समझ सकता है। उनका कहना है कि राहुल सहित अन्य सभी राजकुमारों को भी इसी तरह बिना सोचे-विचारे संघ का सदस्य बना दिया गया। इसका शाक्य राष्ट्र पर विनाशकारी प्रभाव पड़ेगा¹⁴ क्योंकि उनकी इस हरकत के कारण राष्ट्र की 'प्रतिभा और ज्ञान की धरोहर का बीज' जन्म लेने से पहले ही कुम्हला गया है।¹⁵ इसके समानांतर राष्ट्र में दुष्ट, धूर्त और मूर्ख लोगों का वंश व्यापक स्तर पर बढ़ता जा रहा है। इसका केवल बुद्ध की पूर्व प्रजा पर ही नहीं बल्कि पूरे विश्व पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। लेकिन यह क्षति केवल यहीं तक सीमित नहीं थी।

विक्रम की आलोचना जारी रहती है। धम्म¹⁶ का प्रचार करने के फेर में बुद्ध ने लोगों को उनके खेत-खलिहानों, दुकानों और चरखे से उठा कर संघ के रास्ते पर डाल दिया। संन्यासी की तुलना भिखारी से करते हुए विक्रम का कहना है कि भिक्षाटन करके जीवनयापन करने वाले भिक्षुक बाज़ारू,

¹³ सावरकर संन्यास की दो विशिष्ट परम्पराओं के बीच घालमेल कर देते हैं। संन्यासियों के इन दो समूहों में एक समूह संसार से पूरी तरह असंपृक्त रहता था, वनों में निवास करता था, जबकि दूसरा समूह वैसे तो समाज से दूर रहता था लेकिन भिक्षाटन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं के लिए क़स्बों और गाँवों पर निर्भर करता था। गृह-त्यागी संन्यासियों के चित्रण में सावरकर यही ग़फलत करते हैं। देखें, पैट्रिक ऑलिवेल (2012) : 11-13.

¹⁴ *सावरकर समग्र*, खण्ड 4 : 223. सावरकर राज्य अथवा नगर-राज्य या रियासत के बजाए 'राष्ट्र' शब्द का इस्तेमाल करते हैं। यह उनके विचारधारात्मक उद्यम की एक सोची-समझी रणनीति है। वे इसके जरिये आधुनिक राष्ट्रवाद के मूल्यों को इतिहास के एक उस संदर्भ पर चरम करना चाहते हैं जहाँ राष्ट्रवाद के इस पश्चिमी विचार की चेतना ही मौजूद नहीं थी। सावरकर 'जन-कल्याण' या 'अधिकतम लोगों की खुशहाली' जैसे पदों का प्रयोग करने से भी परहेज़ नहीं करते, जबकि ऐसे प्रत्ययों का इस्तेमाल उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ था। जाहिर है कि बुद्ध के काल में ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता था।

¹⁵ उपरोक्त वार्तालाप से विक्रम का यह पश्चाताप प्रकट होता है कि शाक्य वंश में गुणों और ज्ञान की धरोहर इसलिए नष्ट हो गयी थी क्योंकि बुद्ध के आठ वर्षीय पुत्र राहुल सहित सभी राजकुमारों ने संन्यास ग्रहण कर लिया था। क्या गुण और ज्ञान व्यक्ति को जन्मजात मिलते हैं? क्या गुण और ज्ञान विरासत में मिलते हैं? असल में विक्रम के मुँह से ऐसी बातें कहलवा कर सावरकर जाति के संबंध में एक ख़ास प्रवृत्ति का परिचय देते हैं जो उन्नीसवीं सदी के दौरान उभरी थी। यह एक ऐसी प्रवृत्ति थी जो अस्पृश्यता को एक व्यतिक्रम बताकर उसकी भर्त्सना तो करती थी, परंतु इसके साथ जाति के मूल विचार को न केवल उपयोगी घोषित करती थी बल्कि उसे एक नये रूप में पुनर्स्थापित भी करना चाहती थी।

¹⁶ पैट्रिक ऑलिवेल की दलील है कि अगर गृह-त्यागी संन्यास की परम्पराओं ने भारत के धर्मों को संसार तथा मोक्ष/निर्वाण जैसे बुनियादी मूल्यों से समृद्ध किया था तो साथ ही धर्म, जिन, चक्रवर्ती और शासन आदि जैसे ब्राह्मण परम्परा के प्रमुख प्रतीक भी अपनाए थे। पैट्रिक ऑलिवेल (2012) : 14-15.

फूहड़ और नाकारा लोग होते हैं जो हाड़तोड़ मेहनत करने वाले लोगों पर बोझ की तरह लदे रहते हैं। अगर मन संसार से असम्पृक्त रहता है, तब भी अन्न पैदा करना या भीख माँगना सांसारिक बंधन के ही तो चिह्न हैं। विक्रम अपने तर्क का समाहार करते हुए कहते हैं कि इससे सिद्ध होता है कि अंततः संन्यासी भी संन्यासाश्रम के विकृत बंधनों से मुक्त नहीं हो पाता।¹⁷ आश्चर्य की बात है कि विक्रम के आरोपों की झड़ी के बदले बुद्ध बहुत घिसी-पिटी सी बात कहते हैं। बुद्ध कहते हैं कि मानवीय कर्म का उद्देश्य सांसारिक प्रगति नहीं बल्कि पारलौकिक उपलब्धि होती है। मैं और मेरे अनुयायियों के लिए यही बात सबसे महत्वपूर्ण है। इस पर विक्रम का कहना है कि राग-विराग से ऊपर उठ चुके लोगों तथा बुद्ध जैसी प्रबुद्ध आत्माओं को छोड़ कर अन्य लोगों को संन्यास का मार्ग नहीं पकड़ना चाहिए। वह जोर देकर कहते हैं कि निर्वाण-प्राप्ति की साधना गृहस्थ जीवन में रहकर भी की जा सकती है। वे बुद्ध को याद दिलाते हैं कि क्षण भर पहले स्वयं उन्होंने ही यह बात कही थी।

संसंख में इस बात को एक मूलभूत तत्त्व की तरह पेश किया गया है कि संन्यासी द्वारा यौन-सुख, परिवार तथा खेती से पलायन करना समाज और 'राष्ट्र' के लिए नुकसानदेह होता है। लेकिन नाटक लिखने का असली मंतव्य संन्यासी द्वारा खडग या तलवार का परित्याग करने के संदर्भ में स्पष्ट होता है। सीधे कहा जाए तो इस नाटक में सावरकर का उद्देश्य केवल अहिंसा की भर्त्सना करना नहीं, बल्कि हिंसा का महिमा-मण्डन करना है। नाटक का अंत होते-होते सावरकर एक ऐसा ताना-बाना बुन देते हैं जिसमें हिंसा न केवल वांछनीय बल्कि ज़रूरी लगने लगती है। इस ताने-बाने में हिंसा, सदाचार, न्याय, दण्ड, आत्मरक्षा, प्रतिशोध, शक्ति और विरेचन जैसे भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। विचित्र बात ये है कि संसंख के शुरुआती पृष्ठों से ऐसा आभास होता है कि नाटक का अंत कुछ अलग क्रिस्म का होगा। पाठक को पहले अंक के सातवें दृश्य तक इस बात का एहसास नहीं होता कि अंत में अहिंसा के मुकाबले हिंसा की जीत होगी। यहाँ तक कि पाँचवें दृश्य तक भी बुद्ध अहिंसा के चरम रूप का समर्थन करते रहते हैं। इस दृश्य में बुद्ध निर्वाण-प्राप्ति के बाद अपने पिता शुद्धोधन से पहली बार मिल रहे हैं।¹⁸ शुद्धोधन बुद्ध से राजमुकुट और शासन की बागडोर स्वीकार करने के लिए कहते हैं। लेकिन बुद्ध अपने बचपन की स्मृतियों में डूबते-उतरते किसानों की पसीने में डूबी देह और सैनिकों के रक्तरंजित शरीर देख रहे हैं। उन्हें लगता है यह सब सम्पत्ति के राजसी लालच का परिणाम है। संपत्ति की यह दुर्दम चाहना बुद्ध को 'राक्षसीराजपिपासा' लगती है।

नाटक में पाँचवें दृश्य से पहले भी हिंसा का उल्लेख आया है, परंतु उसका संदर्भ संन्यासियों के एक वर्ग द्वारा देह को यातना देने तथा बलि संबंधित कर्मकाण्डों में पशुओं की हत्या तक सीमित है। तथ्य यह है कि पहले अंक के पहले दृश्य¹⁹ में बुद्ध अपने एक शिष्य कौंडिन्य को कुछ ऐसे संन्यासियों के विषय में बता रहे हैं जो यह मानते थे कि शरीर और इंद्रियों को यातना देकर विषयासक्तियों पर विजय पाई जा सकती है, और इसके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। बुद्ध बता रहे हैं कि निर्वाण-प्राप्ति के लिए एक समय उन्होंने भी अपने शरीर के साथ ऐसी ही हिंसा की थी, लेकिन निर्वाण उनकी पहुँच से दूर ही रहा। अंत में उन्हें यह समझ आया कि निर्वाण की प्राप्ति ज्ञान के माध्यम से ही सम्भव है इसलिए उन्होंने दैहिक यातना का मार्ग छोड़ दिया। इस बिंदु पर आकर दोनों का वार्तालाप एक अजीब दिशा में मुड़ जाता है। बुद्ध कौंडिन्य से प्रश्न करते हैं कि क्या यज्ञों और आनुष्ठानिक कर्मकाण्डों में निहित हिंसा के ऐसे सिद्धांत दैहिक तपस्या के देह-दण्ड जैसे तरीकों पर भी लागू किये जा सकते हैं। चूँकि इस वार्तालाप में बुद्ध परमज्ञानी की भूमिका

¹⁷ सावरकर समय, खण्ड 4 : 225.

¹⁸ वही : 215.

¹⁹ वही : 191-195.

में रखे गये हैं इसलिए यह बात समझ से परे है कि वे कौंडिन्य से ऐसा प्रश्न क्यों पूछना चाहेंगे। कौंडिन्य का जवाब भी इतना ही कौतुकपूर्ण है।

कौंडिन्य यज्ञों के दौरान पशु-हत्या की कड़ी भर्त्सना करता है। वह कहता है कि क्या देवी-देवता मांस के लोथड़े से टपकता रक्त देखकर प्रसन्न होते होंगे! और अगर वे इससे प्रसन्न होते हैं तो उन्हें पशुओं की वधशाला देख कर भी खुशी मिलती होगी। कौंडिन्य कहता है कि इसे धार्मिक अनुष्ठान नहीं बल्कि वध कहना ज्यादा ठीक होगा। और अगर ऐसे देवताओं को किसी जीव की हत्या से आनंद मिलता है तो उन्हें देवता नहीं बल्कि राक्षस कहना ही उचित होगा। पशुओं की बलि द्वारा देवताओं और पूर्वात्माओं के प्रसन्न होने की बात को जनता की मूर्खता का लाभ उठाने की कार्रवाई घोषित करते हुए कौंडिन्य अपनी बात एक ऐसी विवेकवादी टेक पर खत्म करता है जो सावरकर के कृतित्व में आमतौर पर देखी जा सकती है।²⁰ कौंडिन्य का पक्ष सुनने के बाद बुद्ध अपनी बात जिस अंदाज़ में प्रस्तुत करते हैं, वह इतिहास के बुद्ध की नहीं बल्कि उन्नीसवीं सदी के उस व्यक्ति की बात ज्यादा नज़र आती है जो जाति और अनुष्ठानों का महिमा-मण्डन करने के लिए तर्क खोजने का जतन कर रहा है।

पशु-बलि को सहज-विश्वासी जनता के साथ छल न बता कर बुद्ध उसे ऐसी हरकत करने वाले लोगों की उन्मत्तता, आवेग, लापरवाही और ग़लती के तौर पर व्याख्यायित करते हैं। पशु-बलि के विकास-क्रम की एक अजीबोगरीब दलील देते हुए बुद्ध कहते हैं कि मनुष्य द्वारा दुख, कष्ट और वेदना आदि से मुक्त होने की प्राचीन और अविरल खोज में ऐसे कर्मकाण्ड प्रशंसनीय प्रयास थे। इसके बाद बुद्ध कहते हैं कि वर्तमान समय में ऐसे क्रियाकलाप व्यर्थ हो गये हैं क्योंकि अनुभव और तार्किकता के कारण उनकी व्यर्थता सिद्ध हो गयी है। इसलिए उनसे चिपके रहना निरर्थक है। पशु-बलि और देह-दण्ड (उपवास सहित) को एक ही तराजू पर रखते हुए बुद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पशु-बलि की इच्छा करने अथवा अपने अनुयायियों से अंतहीन पीड़ा और कष्टपूर्ण साधना की माँग करने वाले देवताओं को राक्षस की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। ऐसे क्रियाकलापों से कभी निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता; सच्चा समर्पण कामनाओं के उन्मूलन में निहित होता है तथा ज्ञान की प्राप्ति और परम मुक्ति का मार्ग भी यही होता है।

सीधे कहा जाए तो इस नाटक में सावरकर का उद्देश्य केवल अहिंसा की भर्त्सना करना नहीं, बल्कि हिंसा का महिमा-मण्डन करना है। नाटक का अंत होते-होते सावरकर एक ऐसा ताना-बाना बुन देते हैं जिसमें हिंसा न केवल वांछनीय बल्कि ज़रूरी लगने लगती है। इस ताने-बाने में हिंसा, सदाचार, न्याय, दण्ड, आत्मरक्षा, प्रतिशोध, शक्ति और विरेचन जैसे भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। विचित्र बात ये है कि संसंख के शुरुआती पृष्ठों से ऐसा आभास होता है कि नाटक का अंत कुछ अलग क्रिस्म का होगा। पाठक को पहले अंक के सातवें दृश्य तक इस बात का एहसास नहीं होता कि अंत में अहिंसा के मुकाबले हिंसा की जीत होगी।

²⁰ वही : 193. पहले अंक के दूसरे दृश्य में सावरकर के अंदर बैठा विवेकवादी ब्राह्मण विद्वपक और लम्पट व्यक्ति शाकमभट्ट से यह कहलवाता है : कहीं चमत्कार की कहानियाँ इसलिए तो नहीं गढ़ी जाती कि सीधे-सादे भक्तों को मूर्ख बनाया जा सके! वह कुंती के गर्भधारण की घटना की ओर इंगित करता है जिसे व्यास ने इस तरह प्रस्तुत किया था कि कुंती ने सूर्यदेव का पति के रूप में आह्वान किया था।



बुद्ध और कौंडिन्य के इस वार्तालाप का इस्तेमाल सावरकर कुछ निश्चित कर्मकाण्डों, दैहिक यातनाओं तथा चमत्कारों के खण्डन के लिए करते हैं। यह वही मुकाम है जहाँ सावरकर अहिंसा के खण्डन-मण्डन की जमीन तैयार करते हैं। अपनी बात साबित करने के लिए सावरकर बुद्ध के मुँह से यह कहलवाते हैं कि उन्होंने कोसल और मगध के राजाओं को इसी सिद्धांत में दीक्षित किया है।²¹ इसका अभिप्राय यह था कि उन राजाओं ने संसार को सशस्त्र संघर्ष, हिंसा तथा आपसी विद्वेष से मुक्त करने के अलावा शांति और सदाचार का राज स्थापित करने का संकल्प लिया था। बुद्ध कहते हैं कि जिस क्षण लोगों को यह एहसास हो जाएगा कि संसार दुख और विषाद से भरा है, उसी क्षण वे युद्ध करने से इनकार कर देंगे और यह समझ जाएंगे कि बाहर से उपलब्धियों का आभास कराने वाली चीजें मात्र छलावा होती हैं।

अहिंसा के महत्त्व और मूल्य का एक ज्यादा व्यवस्थित खण्डन पहले अंक के सातवें दृश्य में देखा जा सकता है।²² भिक्षाटन करने वाले संन्यासियों को कामचोर और भिखारी बताने की तर्ज पर विक्रम सिंह द्वारा संन्यास के आदर्श की वैधता पर भी प्रश्न खड़ा किया जाता है। वे पूछते हैं कि खेत की जुताई के कारण मारे जाने वाले जीवों के आधार पर खेती को पाप कैसे ठहराया जा सकता है। संन्यासी खेती को एक हिंसापूर्ण गतिविधि मानकर इस पाप से दूर रहता है परंतु उसे तब कोई उज्र नहीं होता कि जब उसके लिए यही पाप कोई दूसरा व्यक्ति करता है। और न ही वह उन लोगों को श्रम करने से रोकता है जो उसके उपभोग हेतु अन्न पैदा करते हैं। इसलिए संन्यासी के लिए अच्छा यह होगा कि वह एक पापपूर्ण कर्म के जरिये पैदा होने वाले अन्न का उपभोग न करके खुद अपनी मेहनत से उपजाए अन्न का उपभोग करे। ऐसा करके वह पाखण्ड और प्रवंचना से बच सकता है। इस बिंदु तक सावरकर ने संसंख में विक्रम सिंह के स्वर में जितना कुछ कहा है, वह दरअसल संन्यास तथा अहिंसा के विरुद्ध ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया का ही मुजाहिदा करता है।

संसंख में उन जगहों की शिनाख्त करने से पहले जहाँ सावरकर अहिंसा के विचार में निहित मूल्यों पर खुलकर आक्रमण करते हुए हिंसा के कई रूपों का महिमा-मण्डन करते हैं, थोड़ा रुक कर यह देखना उचित होगा कि संन्यास के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या है और उनका परिप्रेक्ष्य किन स्रोतों से मिल कर बना है। औपचारिक अर्थ में संसंख भले ही काल्पनिक साहित्य की श्रेणी में आता हो, लेकिन उसका एक खास विचारधारात्मक झुकाव भी है। इसके अनेक पात्र इतिहास से उठाए गये हैं। परंतु नाटक संदर्भ और इतिहास की अवहेलना करता है तथा वैचारिक अवधारणाओं, प्रत्ययों और संस्थाओं की खिल्ली उड़ाता प्रतीत होता है। संन्यास, हिंसा तथा अहिंसा से संबंधित कोई भी प्रश्न ठहरा हुआ या एकांगिक नहीं था। ये अवधारणाएँ किसी एक ग्रंथ अथवा दृष्टिकोण पर आधारित नहीं थीं। उदाहरण के लिए, नाटक में इस आशय के संकेत की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि अहिंसा के प्रति संन्यासी की निष्ठा उसे खेती से विरत कर देती थी क्योंकि जुताई के कारण जीव-हत्या होती थी और इसी कारण खेती को एक हिंसापूर्ण कर्म माना जाता था। संन्यास की कुछ परम्पराओं के संदर्भ में यह बात बिल्कुल ठीक है, परंतु तथ्यात्मक दृष्टि से यह बात ग़लत है कि इस विचार का जन्म बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म जैसी संन्यास-प्रधान परम्पराओं में ही हुआ था। जुताई और जीव-हत्या का यह संबंध ब्राह्मण परम्पराओं द्वारा बड़ी शीघ्रता से जड़ कर लिया गया। *मानव धर्मशास्त्र* में मनु कृषि-कार्य को ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध घोषित करते हैं क्योंकि 'इसके कारण जीवों की हत्या होती है और इसमें दूसरों पर निर्भर होना पड़ता है'।²³ यह निषेध केवल संन्यासी के लिए ही नहीं बल्कि ब्राह्मण

²¹ वही : 197.

²² वही : 223-224.

²³ वैश्यों की वृत्ति में संलग्न किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय को भी खेती से दूर रहना चाहिए क्योंकि वह अन्य जीवधारियों के लिए हानिकारक होती है तथा इसमें व्यक्ति को दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। लोगबाग खेती को एक हितकारी काम समझते हैं। लेकिन सज्जन लोग इसकी निंदा करते हैं; हल में लगी लोहे की फाल केवल धरती को ही नहीं चीरती बल्कि उससे मिट्टी में रहने वाले जीवों का जीवन भी समाप्त हो जाता है। देखें, पैट्रिक ऑलिवेल (2004) : 185-186. एल्फ हिल्टबेतेल (2011) : 189.



गृहस्थों तथा सभी सज्जन व्यक्तियों के लिए है। मनु गृहस्थ जीवन में जीव-वध के पाँच स्थलों की ओर भी इशारा करते हैं: अग्नि-वेदी, चक्की, झाड़ू, तगार तथा घड़ा।²⁴ ये *पँचसुनाग हस्तस्य* आसन्न हिंसा²⁵ के उन सम्भावित स्थलों की ओर इंगित करते हैं जिनमें गृहस्थ फँसा रहता है। अहिंसा का यह आग्रह सम्भावित पाप से बचने के लिए ऋषियों द्वारा निर्धारित किये गये पाँच प्रकार के प्रायश्चित्तों का पालन करने पर बल देता है।²⁶

सावरकर की देह-दण्ड अथवा दैहिक तपस्या से संबंधित समझ और चित्रण तथा संन्यासी के जीवन में श्रम की अनुपस्थिति का वक्तव्य भी इतना ही संदेहास्पद है। संन्यासियों का एक निश्चित समूह साधना की प्रक्रिया में देह को भयंकर कष्ट देने में विश्वास करता था। इसे तपस कहा जाता था जिसका शाब्दिक अर्थ गर्मी या जलन से है।²⁷ संन्यास की ऐसी ऊर्जा धारण करने वाले को तपस्वी कहा जाता था। वेदों में संन्यासजन्य तप का विचार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से संबंधित प्रारम्भिक साहित्य में ही मिलने लगता है। इसका उल्लेख देवताओं द्वारा ब्रह्माण्ड के विभिन्न तत्त्वों का निर्माण किये जाने के संदर्भ में किया गया है।²⁸ यह सम्भव है कि कतिपय संन्यासियों के लिए देह को यातना देना ध्यानाकर्षण का तरीका हो, परंतु सावरकर ने देह-दण्ड का अर्थ जिस संदर्भ में ग्रहण किया है, उसमें गलत व्याख्या के साथ तीन प्रकार के बलात् परिवर्तन भी देखे जा सकते हैं। सबसे पहले, सावरकर तपस के विचार को मुख्यतः देह-दण्ड तक सीमित करते हैं और संन्यास का अवमूल्यन करने के लिए भिक्षाटन तथा ब्रह्मचर्य को देह-दण्ड के समानांतर खड़ा कर देते हैं। दूसरे, उन्होंने इस तथ्य की ओर भी ध्यान नहीं दिया है कि तपस जैसा प्रत्यय जब दैहिक कष्ट-साधना के आशयों से मुक्त हो जाता है तो वह स्वयं ब्राह्मणवादी परम्पराओं में अंतर्भुक्त होकर वेद का पाठ; पिता, माता और गुरु की सेवा करने जैसे गृहस्थ-कर्तव्यों का अंग बन जाता है।²⁹ अंत में, सावरकर तपस के उस मूल स्रोत का बहुत कम उल्लेख करते हैं जिसने देह को यातना देने जैसे क्रियाकलापों के नकार में मूल प्रेरणा की भूमिका निभाई थी। प्रस्तुत नाटक को पढ़ने पर यह भाव उभरता है कि जैसे ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में दैहिक यातना के विरोध का तर्क कौंडिन्य, विक्रम सिंह तथा विदूषक पात्रों— शाकम भट्ट और टाकम सिंह की बातों से उत्पन्न होता है। नाटक में जहाँ-जहाँ देह-दण्ड की चर्चा की गयी है, वहाँ-वहाँ बुद्ध को केवल देह-दण्ड के विरोध में कहे गये तर्कों का समर्थन करते ही नहीं बल्कि कम प्रबुद्ध लोगों में इन रीतियों के प्रचलन को जायज़ ठहराते भी दिखाया गया है। नाटक से बाहर आने पर यह विचार उभरता है मानो तपस द्वारा देह को यातना देने का सबसे प्रबल विरोध बुद्ध ने ही किया है। बुद्ध के इस कथन में दैहिक यातना के विरुद्ध एक बड़ा ही व्यवस्थित तर्क देखा जा सकता है :

मुझे विचार आया। विगत समय के संन्यासियों अथवा ब्राह्मणों ने साधना की प्रक्रिया में जिन पीड़ाजनक, यातनापूर्ण और कष्टप्रद मनोभावों का अनुभव किया था, उनकी तुलना में मेरा अनुभव चरम कोटि का है। इससे आगे पीड़ा की कोई और सीमा नहीं हो सकती। भविष्य के संन्यासी और

²⁴ पैट्रिक ऑलिवेल (2004) : 185-186.

²⁵ एल्फ़ हिल्लेबेतेल (2011) : 189.

²⁶ अहिंसा— इस शब्द के इस्तेमाल का इतिहास बड़ा विविधतापूर्ण रहा है. इस विषय में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है. प्रस्तुत लेख के संदर्भ में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि शुरुआती काल में यह पद संन्यास तथा बौद्ध एवम् जैन धर्म जैसी वैदिकेतर परम्पराओं से जुड़ा था. हिंदू धर्म की विभिन्न धाराओं में इसका उभार परवर्ती काल की घटना है. देखें, हेंक डब्ल्यू. बोदेवित्ज़ (1999) : 17-44. यह भी देखें, जे.सी. होस्टरमैन (1984) : 119-127. ; हेंस-पीटर स्मिट (1968) : 625-655. ; बोरिस ओगुईबेनिन (2003) : 65-83.; मैदेलीन बिआदों (2003) : 85-104.

²⁷ पैट्रिक ऑलिवेल (2012) : 32-33.

²⁸ बकरे का जन्म अग्नि की ऊष्णता (तपस) से हुआ था. (पद सं. 13.51). वस्तुतः प्रजापति की ऊष्णता से जन्मा हुआ अग्नि की ऊष्णता से पैदा हुआ था. 'स्रष्टा को पहले उसी ने देखा था.' इस प्रकार, प्रजापति ही स्रष्टा है. देखें, ब्रायन के. स्मिथ (1994) : 259.

²⁹ ऑलिवेल (2012) : 38. यह भी देखें, ऑलिवेल (2004) : 36-40.

ब्राह्मण जिन पीड़ाजनक, यातनापूर्ण और कष्टप्रद मनोभावों का अनुभव करेंगे, उनकी तुलना में भी मेरा यह अनुभव चरम कोटि का रहेगा। इससे आगे पीड़ा की कोई और सीमा नहीं होगी। परंतु साधना का यह भयावह मार्ग अपनाकर भी मैं मनुष्येतर सिद्धियों तक नहीं पहुँच पाया और न ही मुझे सिद्ध पुरुषों की भाँति कोई विशिष्ट ज्ञान अथवा लब्धि प्राप्त हो सकी। क्या ज्ञान-प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग भी हो सकता है ?³⁰

संसंख में इन तर्कों की प्रतिष्ठा इसलिए सम्भव हो पाई है क्योंकि उसमें एक तरफ संन्यास के आदर्श और संस्था तथा दूसरी ओर गृहस्थ के बीच सरल लेकिन स्पष्ट अंतर किया गया है। आज पैट्रिक ऑलिवेल, योहान ब्रोंखुर्स्ट तथा एल्फ हिल्लेबेटेल जैसे विद्वानों की नयी प्रस्थापनाएँ हमें संन्यास तथा आश्रम व्यवस्था के विषय में नये कोण से विचार करने का अवसर देती हैं।³¹ उक्त विद्वानों की कृतियों में इन अवधारणाओं और संस्थाओं का एक ऐसा अध्ययन मिलता है जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों की बारीकी और संदर्भ की सटीकता, दोनों मौजूद हैं। इस बिंदु पर इन विद्वानों की प्रस्थापनाओं का एक संक्षिप्त जायज़ा उपयोगी रहेगा।

संन्यासी का ब्राह्मणवादी परम्पराओं की रूढ़िवादी संस्थाओं से पलायन करना एक विचारधारात्मक कृत्य था। इसमें एक नये संघर्ष की सम्भावना भी निहित थी। गृह-त्याग और संन्यास के पीछे एक सुविचारित समझ थी। ये लोग यौन-संबंधों सहित पारिवारिक जीवन तथा अग्नि पूजा का भी निषेध करते थे। गौरतलब है कि वैदिक कर्मकाण्डों में अग्नि की पूजा एक मूलभूत तत्त्व थी। संन्यासी न केवल स्थायी घर से परहेज करते थे बल्कि धनार्जन से संबंधित गतिविधियों में भी भाग नहीं लेते थे। बौद्ध तथा जैन धर्म में संन्यास एक केंद्रीय भित्ति की तरह था। इन धर्मों के प्रादुर्भाव का प्रभाव ब्राह्मणवादी परम्परा पर भी पड़ा। ब्राह्मण धर्म में संसार तथा मोक्ष/निर्वाण जैसे पदों की केंद्रीयता इसी का परिणाम था।

आश्रम की व्यवस्था जीवन को एक अनुशासित ढाँचे में बाँधने का उपक्रम था। आश्रम-व्यवस्था संन्यास के आदर्श को ब्राह्मणवादी परम्पराओं में आत्मसात् करने का भी ढंग था। यह एक अनूठी अवधारणा थी जिसका विकास कई चरणों में हुआ था। पहले पहल इसमें संन्यास जीवन के एक स्वतंत्र विकल्प के रूप में उभरा था, लेकिन बाद में उसे जीवन के विभिन्न चरणों की एक निश्चित अवस्था के साथ जोड़ दिया गया।³² एक समय यह जीवन जीने की एक विशेष शैली थी जिसमें व्यक्ति समाज से दूर रहकर साधना और कर्मकाण्डों के प्रति समर्पित रहा करता था, लेकिन बाद में वह बुढ़ापे की एक आम संस्था बनकर रह गयी। ऑलिवेल कहते हैं, 'कुल मिलाकर, आश्रम की शास्त्रीय व्यवस्था में संन्यास जीवन के एक विशेष उद्यम के स्थान पर बुढ़ापे की संस्था अथवा जीवन से निवृत्ति का रूप बनकर रह गया'।³³ इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि संन्यास की परम्परा में साधना, परिश्रम और थकान के लिए श्रम शब्द का प्रयोग किया गया है। आश्रम शब्द की रचना में धार्मिक श्रम समर्पित स्थान और जीवनशैली का द्योतक है। इसी तरह बौद्ध धर्म में अपना जीवन धार्मिक श्रम को समर्पित कर देने वाले भिक्षुक को श्रमण की संज्ञा दी गयी। ऑलिवेल अपनी रचना में जिसे 'परवर्ती ब्राह्मणवादी परम्परा की विचारधारात्मक धरोहर' कहते हैं, उसमें तपस और

³⁰ 'महासक्क सुत्त : द ग्रेटर डिस्कोर्स ऑफ सक्क', पालि से अनुदित, मूल अनु: भिक्कु नाणामोलि, अनुवाद, संपादन और पुनर्लेखन: भिक्कु बोधि (1995) : 340.

³¹ पैट्रिक ऑलिवेल (2004), *द आश्रम सिस्टम : द हिस्ट्री ऐंड हर्मेन्युटिक्स ऑफ रिलीजस इंस्टीट्यूशन*, मुंशी मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली.; पैट्रिक ऑलिवेल (1986) तथा (1987). यह भी देखें, योहान ब्रोंखुर्स्ट (1993); एल्फ हिल्लेबेटेल (2011).

³² इनमें ब्रह्मचारी विद्यार्थी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा गृह-त्यागी संन्यासी शामिल थे.

³³ पैट्रिक ऑलिवेल (2012) : 19.

कर्मकाण्ड संबंधी गतिविधियों के अलावा श्रम का प्रत्यय भी एक आधार था।³⁴ इसलिए सावरकर द्वारा संन्यासियों को निठल्ला कहना एक गढ़ा हुआ आरोप है।

अगर संन्यास के ब्राह्मणवादी बोध में तपस और श्रम को विशिष्ट स्थान प्राप्त था, तो दूसरी ओर वह उस मूल्य व्यवस्था को भी यथेष्ट महत्त्व देता था जिसमें घर, परिवार तथा कर्मकाण्ड सर्वप्रमुख समझे जाते थे। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ब्राह्मणवाद की इन्हीं बुनियादी संस्थाओं— घर, विवाह, परिवार तथा अग्नि और कर्मकाण्ड को चुनौती दे रहे थे। भिक्षाटन करने वाले संन्यासी इन मूल्यों का विरोध करते थे। ब्राह्मणवादी परम्परा की कुछ प्रभावशाली शाखाओं ने संन्यास के इस चरम रूप के आकर्षण को बेअसर करने के लिए उसका तीव्र प्रतिवाद किया। ब्राह्मणों के लिए निर्धारित किये गये तीन ऋण अर्थात् ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण की परिकल्पना एक ऐसी ही व्यूहरचना थी।³⁵ इसके कारण आश्रम व्यवस्था की पूरी धारणा ही बदल गयी। चूँकि आश्रम की चारों अवस्थाओं में केवल गृहस्थ व्यक्ति संतानोत्पत्ति, विशेषकर पुत्रोत्पत्ति कर सकता था,³⁶ इसलिए धर्मशास्त्रों में³⁷ यह कहा गया कि आश्रम तो वस्तुतः एक ही अर्थात् गृहस्थ का होता है, क्योंकि शेष तीन अवस्थाओं के लोग तो इन तीन ऋणों से कभी मुक्त ही नहीं हो सकते। इस संबंध में मनु का तो बाकायदा निर्देश है कि अगर कोई व्यक्ति तीन ऋणों को चुकाए बिना संन्यास धारण कर लेता है तो वह 'अधोपतन का भागी'³⁸ होता है।

सावरकर की दुनिया धर्म के उन्नीसवीं सदी में गूँजे उसी पुनरोद्घोष का वैचारिक नैरंतर्य है जिसमें ब्राह्मण धर्म के शीर्ष पर विराजमान था। मनु और उसकी संहिता में वही सब प्रतिध्वनित होता है जिसे सावरकर मूर्त होते देखना चाहते हैं।

इसलिए, इस विचारधारा के अनुयाइयों का ध्यान उन महत्वपूर्ण ग्रंथों³⁹ की ओर खींचना निरर्थक होगा जिनमें तीन ऋणों और वैदिक कर्मकाण्डों से नितांत भिन्न दृष्टिकोण अपनाया गया है; तथा संतान के रूप में केवल पुत्रेच्छा पर जोर न देकर और संन्यास को सक्रिय जीवन के अंत का द्योतक नहीं बल्कि

अगर संन्यास के ब्राह्मणवादी बोध में तपस और श्रम को विशिष्ट स्थान प्राप्त था, तो दूसरी ओर वह उस मूल्य व्यवस्था को भी यथेष्ट महत्त्व देता था जिसमें घर, परिवार तथा कर्मकाण्ड सर्वप्रमुख समझे जाते थे। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ब्राह्मणवाद की इन्हीं बुनियादी संस्थाओं— घर, विवाह, परिवार तथा अग्नि और कर्मकाण्ड को चुनौती दे रहे थे। भिक्षाटन करने वाले संन्यासी इन मूल्यों का विरोध करते थे। ब्राह्मणवादी परम्परा की कुछ प्रभावशाली शाखाओं ने संन्यास के इस चरम रूप के आकर्षण को बेअसर करने के लिए उसका तीव्र प्रतिवाद किया।

³⁴ वही : 33

³⁵ 'धर्मसूत्राज ऑफ़ बौधायन', 2.11.33., पैट्रिक ऑलिवेल (2009) : 194-195. यहाँ संतानोत्पत्ति का आशय पुत्र को जन्म देना है।

³⁶ ब्राह्मणों के संबंध में तीन ऋण चुकाने का यह अर्थ भी है कि व्यक्ति ने 'धर्म के अनुसार पुत्र पैदा किये हों...' देखें, पैट्रिक ऑलिवेल (2004) : 100.

³⁷ 'धर्मसूत्राज ऑफ़ बौधायन', 2.11.33., पैट्रिक ऑलिवेल (2004) : 194.

³⁸ पैट्रिक ऑलिवेल (2004) : 100-101. यहाँ ऑलिवेल एक दूसरे संदर्भ को भी लक्षित करते हैं जिसमें 'अधोगामी प्रवाह' जैसे पद का प्रयोग किया है. इस पद का अभिप्रायः जाति से च्युत होने के साथ रसातल (ब्रह्माण्ड संबंधी कल्पना में) की ओर गिरना भी है. : 260.

³⁹ उदाहरण के लिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.4.21-23.; छांदोग्य उपनिषद्, 2.23.1, 5.10.1-2.; मुण्डक उपनिषद्, 1.2.1-13. देखें, पैट्रिक ऑलिवेल (2008); यह भी देखें, पैट्रिक ऑलिवेल (1986) : 105.



जीवन का महत् आदर्श मान कर उसे भी आश्रय प्रदान करने की बात की गयी है। उपनिषदों के सच्चे और अनश्वर ब्रह्म की अवहेलना करते हुए मनु अपनी स्मृति में गृहस्थ और तत्संबंधी गतिविधियों को केंद्रीय स्थान प्रदान करते हैं। *मानव धर्मशास्त्र* में वे न केवल गृहस्थाश्रम को सर्वोच्च, सबसे वांछनीय और प्रमुख घोषित करते हैं, बल्कि उसे ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले संन्यासी के समकक्ष रख देते हैं।

विद्यार्थी, गृहस्थ, ऋषि तथा संन्यासी : ये चारों अवस्थाएँ गृहस्थ से उद्भूत हुई हैं। इन अवस्थाओं का पवित्र ग्रंथों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार उचित क्रम में पालन करने पर ब्राह्मण ज्ञान की उच्चतम स्थिति में पहुँच जाता है। लेकिन वैदिक संहिताओं के आदेशानुसार इन चारों में गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि एक वही है जो शेष तीनों को आश्रय प्रदान करता है : जैसे समस्त नदियाँ और उप-नदियाँ अंततः सागर में समा जाती हैं, उसी प्रकार चारों आश्रम गृहस्थाश्रम में विलीन हो जाते हैं।⁴⁰

उपरोक्त उद्धरण से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि विक्रम सिंह द्वारा गृहस्थ जीवन का महिमा-मण्डन इसी भावना से प्रेरित है। समय के साथ संन्यास का विचार अपनी विद्रोही मुद्रा खो कर एक भिन्न तरह का मानक बन गया।⁴¹ उसकी व्याख्या इस तरह की जाने लगी कि गृहस्थ का जीवन संन्यास से ज्यादा श्रेयस्कर और सार्थक होता है।



ब्रह्मचर्य तथा संन्यास को निरर्थक और समाज के लिए नुकसानदेह साबित करने के बाद विक्रम सिंह द्वारा शस्त्रों के त्याग— कृपाण-त्याग का प्रश्न उठाया जाता है। सावरकर विक्रम सिंह के मुँह से कहलवाते हैं कि संन्यास की 'परम अहिंसा' के अंतर्गत शस्त्रों का त्याग करना एक ऐसा बुद्धिहीन काम है जो राष्ट्र और समाज की भयंकर विभीषिका का कारण बनता है।⁴² अतिशय अहिंसा के सिद्धांत को आत्म-विनाश का रूप बताते हुए विक्रम सिंह का कहना है कि अतिशय अहिंसा का पालन अंततः चरम हिंसा में परिणत होता है। यहाँ विक्रम सिंह के मुँह में जिस तरह के संवाद रखे जा रहे हैं, उन्हें पढ़ कर उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के राजनीतिक विमर्श की याद ज्यादा आती है। बुद्ध के ऐतिहासिक व्यक्तित्व से इन बातों का दूर-दूर तक संबंध नहीं है।

तथागत का विश्वास है कि सज्जन आत्माओं के रक्षार्थ आक्रांता से प्रतिशोध लेना हिंसा नहीं, बल्कि एक ऐसा सार्थक कृत्य होता है जो हिंसा का शमन करता है। परंतु यह कार्य संन्यासाश्रम के बजाय गृहस्थ के कर्म-क्षेत्र में आता है।⁴³ विक्रम सिंह का किरदार इस स्पष्टीकरण पर भी ध्यान नहीं देता और अहिंसा के सिद्धांत का खण्डन करने में लगा रहता है। वह कहता है कि कृपाण का त्याग कर देना किसी भी राष्ट्र के लिए सबसे बड़ी विपत्ति होती है। ऐसे देश भयंकर विषाद में बिलबिलाते हुए दम तोड़ देते हैं। संन्यास के मूल्यों में आस्था रखने वाले देश अंततः उसी तरह दुनियादारी में यक्रीन करने वाले देशों का शिकार बन जाएँगे जिस तरह बाज़ अपने शिकार पर झपट्टा मार कर उसे चिथड़े-चिथड़े कर डालता है। इस विभीषिका में राक्षसों के रक्तरंजित हाथ और नाखून बुद्ध की धरोहर को भी तार-तार कर देंगे।

विक्रम सिंह का यह कथोपकथन एक ऐसा प्रयास नज़र आता है जो हिंसा की भवितव्यता से नैतिकता का प्रश्न पूरी तरह गायब कर देता है। इससे भी संगीन तथ्य यह है कि नाटक में वास्तविक

⁴⁰ पैट्रिक ऑलिवेल (2014) : 38.

⁴¹ पैट्रिक ऑलिवेल (2012) : 38.

⁴² सावरकर समग्र, खण्ड 4 : 226.

⁴³ वही : 226. शास्त्रों और मनु का उद्धरण देते हुए विवेकानंद भी ठीक यही तर्क प्रस्तुत करते हैं. उनका कहना था कि अहिंसा गृहस्थ व्यक्ति के लिए उचित नहीं है. वे यह बात भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अप्रतिरोध तथा अहिंसा बुद्ध की शिक्षाएँ हैं लेकिन यह एक ऐसा तरीका है जिसमें 'भयावह कमजोरी' छिपी है. देखें, *क्लेक्टेड वर्क्स ऑफ़ स्वामी विवेकानंद* (1999, बारहवाँ संस्करण) : 267.



या सम्भावित शत्रुओं के खिलाफ हिंसा की समस्त कार्यवाई न केवल जायज़ ठहरा दी गयी है बल्कि उसे तात्कालिक रूप से आवश्यक भी घोषित किया गया है। इस तरह यह नाटक किसी भी प्रकार के आत्म-चिंतन या संयम की अनुपस्थिति में हिंसा की पहुँच और प्रभाव को ही यथार्थ के तौर पर प्रस्तुत करता है। इसलिए विक्रम के इस भय के प्रत्युत्तर में अतिशय अहिंसा का पालन करने वाला राष्ट्र एक भीषण और रक्तपातपूर्ण विनाश का शिकार होता है, बुद्ध यह कहते दिखाए गये हैं कि संन्यासी के पास भी एक ऐसी ही कृपाण होती है जिसका प्रभाव वास्तविक अस्त्रों से ज़्यादा मारक होता है। संन्यासी का यह अस्त्र उसका क्षमा-भाव होता है। बुद्ध प्रश्न करते हैं : 'शत्रु उस व्यक्ति का क्या बिगाड़ सकता है जिसके पास क्षमा का अस्त्र होता है?'⁴⁴ इस पर विक्रम का उत्तर है : शत्रु उस व्यक्ति की हत्या कर सकता है, उसका जीवन समाप्त कर सकता है।⁴⁵ स्पष्ट है कि नाटक में क्षमा-भावना के गुणों-अवगुणों पर कोई चर्चा नहीं की गयी है, और न ही कतिपय विशेष संदर्भों में उसके सम्भावित महत्त्व की ओर ध्यान दिया गया है।

वस्तुतः क्षमा का प्रश्न शक्ति की वांछनीयता तथा दण्डित करने की क्षमता से बहुत गहरे जुड़ा है।⁴⁶ विक्रम का चरित्र प्रतिवाद करते हुए कहता है कि एक निर्बल व्यक्ति के क्षमा-भाव का कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि उसके पास किसी को दण्डित करने की क्षमता नहीं होती। ऐसा क्षमा-भाव आत्म-समर्पण का ही दूसरा नाम होता है।⁴⁷ वह पशु-जगत से उदाहरण देते हुए कहता है कि अगर कोई गाय भूखे चीते के सामने पड़ जाए और वह उसे क्षमा करने के लिए तैयार हो जाए तब भी चीता उसे जीवित नहीं छोड़ेगा। और अगर वह उसके सामने समर्पण कर दे तब भी चीता उसे मार कर खा जाएगा। इसलिए, यह उम्मीद पालना एक मूर्खता⁴⁸ होगी कि दुष्ट शत्रु किसी राष्ट्र को इसलिए क्षमा कर देगा कि उक्त राष्ट्र ने उसके कुकृत्यों को माफ़ कर दिया है। यह एक ऐसा मूर्खतापूर्ण उद्देश्य⁴⁹ है जिसकी तुलना केवल आत्महत्या से की जा सकती है। वह कहता है कि शाक्यों का राष्ट्र कोसल और मगध के बीच स्थित है और ये दोनों राज्य विस्तारवादी महत्वाकांक्षा रखते हैं, इसलिए बुद्ध के अनुकरणीय जीवन और शाश्वत सत्य के आदर्श में पड़कर शस्त्र त्यागने का अर्थ शाक्य राष्ट्र को गम्भीर संकट में डालना होगा।

बुद्ध अपनी बात दोहराते हुए कहते हैं कि उनका उद्देश्य हथियारों और युद्ध की राक्षसी शक्ति के ज़रिये अपनी-अपनी श्रेष्ठता की मरीचिका में उलझे देशों को इस होड़ से विरत करना है। युद्ध को एक 'निर्लज्ज रक्तपिपासा' घोषित करते हुए बुद्ध सभी देशों और सम्पूर्ण मनुष्यता से आह्वान करते हैं कि वे प्रेम, उदारता, क्षमा-भाव तथा शांति के मार्ग पर चलें। बुद्ध विक्रम सिंह से भी आग्रह करते हैं कि वह अपने वर्तमान जीवन को छोड़कर संन्यासी जीवन का वरण करे। लोगबाग शाक्य सेना के सेनापति को बुद्ध का अनुसरण करते देख ज़्यादा से ज़्यादा संख्या में शांति, अहिंसा और करुणा के सिद्धांतों के प्रति

⁴⁴ सावरकर का साँचा बहुत सरलीकृत है। संन्यासी युद्ध में भाग लेते थे। इस संबंध में पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं। देखें, फ़ाइलिस ग्रैनाफ़ (1984) : 291-303.

⁴⁵ सावरकर समग्र, खण्ड 4 : 227.

⁴⁶ हिंदू विधि-विधान में निरूपित धर्म की परिभाषा दण्ड के बिना पूरी नहीं होती— डोनाल्ड आर. डेविस, जूनियर का यह महत्वपूर्ण कथन लूडो रोचर के प्राचीन हिंदू अपराध-विधि पर केंद्रित निबंध से निकला है। डेविस वाल्टर बेंजामिन के इस विचार को हिंदू संदर्भ में रखकर भी तौलते हैं कि क्रानून हिंसा पर आधारित होता है। हालाँकि दण्ड, हिंसा और हिंदू विधि-विधान की चर्चा प्रस्तुत लेख से बाहर की बात है, लेकिन यहाँ यह दर्ज करना ज़रूरी है कि सावरकर ने दण्ड की अवधारणा पर बारीक़ी से विचार नहीं किया है जिसके चलते वे हिंसा, दण्ड तथा क्रानून के प्रश्न को कुछ इस तरह गड़मड़ कर देते हैं: क्रानून=दण्ड=हिंसा। देखें, डोनाल्ड आर. डेविस, जूनियर (2010) : 128-143. यह भी देखें, लूडो रोचर (2012) : 145-162.; बिर्नाय कुमार सरकार (1921) : 79-90.

⁴⁷ सावरकर समग्र : 227. आत्मसमर्पण के लिए सावरकर शरणागति शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन इसका अर्थ आश्रय लेना भी हो सकता है.

⁴⁸ वही : 227.

⁴⁹ वही : 227.

आकर्षित होंगे। इसी तरह जब अन्य राज्य भी यह देखेंगे कि एक पराक्रमी सेनापति स्वयं करुणा का संदेश दे रहा है तो उन्हें भी न केवल युद्ध अनावश्यक लगने लगेगा बल्कि वे उससे घृणा भी करने लगेंगे। बुद्ध यह घोषणा करते हुए कि उनका उद्देश्य संसार से युद्ध और संघर्ष⁵⁰ समाप्त करना है, विक्रम से पूछते हैं कि क्या यह आदर्श वरेण्य नहीं है। विक्रम का किरदार कहता है कि ऐसे उद्देश्य निस्संदेह महान और श्लाघनीय हैं, परंतु वह बुद्ध के तरीकों और युक्तियों से सहमत नहीं है। वह बुद्ध की इस बात के लिए तो प्रशंसा करता है कि शाक्य राजवंश का एक प्रतिनिधि संसार से युद्ध और संघर्ष समाप्त करने का बीड़ा उठा रहा है परंतु इसी के साथ वह भविष्यवाणी भी करता है कि युद्ध आज से ढाई हजार वर्ष बाद भी होते रहेंगे। वह कहता है कि मनुष्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा संहारक है। इसलिए संसार में शक्ति का सिद्धांत ही विजयी हो सकता है। शांति के भविष्यगत युग का स्वप्न देखने वाले लोग ही सबसे विनाश का दंश झेलेंगे और सबसे ज्यादा हानि भी उन्हीं की होगी क्योंकि ऐसे लोग पहले अस्त्रों का त्याग कर के पहले ही निर्बल हो जाएँगे और अंततः दूसरों की दया पर निर्भर करने लगेंगे।⁵¹ अहिंसा का 'फल' खाने के फेर में ऐसे लोगों को अंत में हिंसा का काँटा ही निगलना पड़ेगा।

ऐसी भविष्यवाणियों और आशंकाओं के बावजूद विक्रम द्वारा बुद्ध को भरोसा दिलाया जाता है— वह नहीं चाहता कि आगामी पीढ़ियाँ यह सोचने लगें कि बुद्ध जैसे दैवीय और जावज्वल्यमान व्यक्ति द्वारा संसार में शांति का युग लाने की परियोजना का लोगों द्वारा समर्थन नहीं किया गया था। वह बुद्ध की इच्छाओं से सहमत हो कर भिक्षु संघ में शामिल होने के लिए तैयार हो जाता है। वह एक नाटकीय भंगिमा का सहारा लेते हुए अपनी कृपाण और अपने अकेले पुत्र वल्लभ को शाक्य समुदाय के हवाले कर देता है। इस पर बुद्ध कहते हैं कि शांति, प्रेम और दया का शासन स्थापित करने का प्रयास चाहे सफल हों या विफल, परंतु इसके बारे में कोई यह नहीं कह सकेगा कि इस प्रयास की मंशा ठीक नहीं थी।

इसके बाद नाटक का दृश्य चार दशक आगे चला जाता है। राज दरबार में शाक्यों का राजा महानामा अपने सेनापति वल्लभ सिंह से बात कर रहा है। दृश्य की पृष्ठभूमि यह है कि शाक्य राज्य पर कोसल के राजा विद्युतगर्भ ने आक्रमण कर दिया है। राजा महानामा शाक्य वंश तथा बुद्ध एवं परिवार के कुछ अन्य सदस्यों द्वारा संन्यास-ग्रहण का स्मरण कर रहा है। अतीत को याद करते हुए महानामा कहता है कि शाक्य वंश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य विक्रम सिंह द्वारा शस्त्रों का त्याग और संन्यास लेना था। उसने यह क्रदम बुद्ध के इस वायदे पर उठाया था कि इससे समस्त देश अस्त्रों का त्याग करने के लिए प्रेरित होंगे और इस तरह संसार युद्ध की प्रवृत्ति से मुक्त हो जाएगा। उस समय के सभी जिम्मेदार और योग्य व्यक्ति बुद्ध के इस स्वप्न में शामिल हो गये और सभी ने संन्यास ग्रहण कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि शाक्यों की राजधानी पराक्रम से हीन हो गयी। आज संकट की इस बेला में साधारण नागरिक सेना में भर्ती होने से इनकार कर रहे हैं। वे युद्ध को अपराध और सैनिकों को कसाई कह रहे हैं। राजा पराक्रम, वीरता और सुशासन को सैन्य क्षमता का परिणाम मानते हुए अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि संकट की इस घड़ी में विक्रम सिंह को युद्ध का नेतृत्व करने के लिए वापस बुलाया जाए।⁵²

नाटक के दूसरे अंक के छठे दृश्य में बुद्ध विक्रम सिंह सहित अपने शिष्यों के साथ बैठे हैं। विक्रम का कहना है कि उन्होंने चालीस वर्ष पहले जिस बात की आशंका जताई थी आज वह सामने आ खड़ी हुई है। क्या थी ये आशंकाएँ? इन आशंकाओं से आशय यह था कि केवल करुणा के बल

⁵⁰ वही : 227.

⁵¹ वही : 228-229.

⁵² वही : 249.

पर क्रोध पर विजय नहीं पाई जा सकती, अहिंसा का पालन करने से हत्याएँ नहीं रोकी जा सकती और शास्त्रों की शक्ति से अस्त्रों को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसी बात है जो हमेशा कारगर नहीं होती, न ही यह सार्वभौम स्तर पर घटित होती है। बुद्ध को सम्बोधित करते हुए विक्रम का कथन है कि आज वह यथार्थ उनके सामने खड़ा है: उनके महान त्याग, संसार को वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु तथा जन्म-मरण के चक्रों से मुक्ति दिलाने का उनका प्रण पूरी विफलता के साथ सामने खड़ा है। बुद्ध (किसी से संलग्न) तथा बुद्ध (अर्थात् ज्ञानी) जैसे शब्दों से खेलते हुए विक्रम का चरित्र उपालम्भ भरे स्वर में कहता है कि भौतिकता से आबद्ध सांसारिक जीवन हो अथवा ज्ञान की सिद्धि से युक्त जीवन, दोनों को चार प्रकार के दुखों का सामना करना पड़ता है तथा ज्यादा ताकतवर शत्रु और प्रकृति के आगे नतमस्तक होना पड़ता है।⁵³ विक्रम का बुद्ध से कथन है कि ऐसे शत्रुओं से मुकाबला होने पर व्यक्ति को ऐसी रणनीति अपनानी चाहिए जिससे मनुष्य जाति का भला होता हो।

अहिंसा का मूलगामी विचार इसलिए विफल हुआ क्योंकि संसार में पहले से ही ऐसे लोग थे जो अपनी प्रकृति से सत्यान्वेषी होते हैं और करुणा, क्षमा-भाव तथा अहिंसा जैसे उदात्त विचारों में विश्वास रखते हैं। इसी तरह स्वभाव से दुष्ट और दुर्जन लोग बुद्ध के प्रवचनों का प्रतिवाद करते रहे तथा अस्त्रों के आधार पर अपनी शक्ति बढ़ाते रहे। विक्रम का कहना है कि, 'नैतिक और आसुरी शक्तियों के इस युद्ध में अस्त्रधारियों के लौहमण्डित पैर धार्मिक ग्रंथों के पृष्ठों को कुचल कर रख देंगे।'⁵⁴ शाक्य राज्य में अस्त्रों के प्रति इस वितृष्णा के लिए बुद्ध को ज़िम्मेदार ठहराते हुए विक्रम द्वारा पश्चाताप किया जाता है कि संन्यास और बुद्ध का मार्ग चुनने के बावजूद युद्ध का यथार्थ मिट नहीं पाया। आज हालत यह है कि शाक्यों का देश मगध तथा कोसल से आक्रांत हो गया है।

राजा बिम्बिसार, प्रसेनजित, शाक्य और अन्य राजवंश— जिसने भी आपके प्रवचनों पर ध्यान दिया और आपके मार्ग का अनुसरण किया, वह अंततः मृत्यु का शिकार हुआ। लेकिन दुष्ट लोग— जिन्होंने आपकी बातों पर ध्यान न देकर अस्त्रों की पूजा जारी रखी, निरंतर सफल होते गये। अंत में, शक्ति से रहित करुणा क्रोध के हाथों नष्ट हो गयी तथा क्षमा का निर्बल, शक्तिहीन भाव दुर्जनता से मात खा गया।⁵⁵

वह बुद्ध की इस बात के लिए तो प्रशंसा करता है कि शाक्य राजवंश का एक प्रतिनिधि संसार से युद्ध और संघर्ष समाप्त करने का बीड़ा उठा रहा है परंतु इसी के साथ वह भविष्यवाणी भी करता है कि युद्ध आज से ढाई हजार वर्ष बाद भी होते रहेंगे। वह कहता है कि मनुष्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा संहारक है। इसलिए संसार में शक्ति का सिद्धांत ही विजयी हो सकता है। शांति के भविष्यगत युग का स्वप्न देखने वाले लोग ही सबसे पहले विनाश का दंश झेलेंगे और सबसे ज्यादा हानि भी उन्हीं की होगी क्योंकि ऐसे लोग अस्त्रों का त्याग करके पहले ही निर्बल हो जाएँगे।

⁵³ वही : 254–255.

⁵⁴ वही : 255.

⁵⁵ वही : 256.

बुद्ध इसका प्रतिवाद करते हुए पूछते हैं कि क्या उनके द्वारा स्थापित संघ पूरी तरह निरर्थक रहा। विक्रम द्वारा बुद्ध को आश्वस्त किया जाता है कि उन्होंने संसार को एक अत्यंत उदात्त नैतिकता का उपहार दिया है। इसके कारण असंख्य लोगों का उद्धार हुआ। संसार बुद्ध के प्रवचनों के लिए उनका सदैव ऋणी रहेगा। परंतु इन अनुकरणीय उपलब्धियों के बावजूद बुद्ध इस सत्य को नहीं झुठला नहीं सके कि अस्त्रों का परित्याग करना हानिकारक होता है।

वार्तालाप के इस बिंदु पर आनंद राजा महानामा द्वारा भेजे गये दूत के आगमन की सूचना देते हैं। विक्रम के लिए यह अहिंसा के सद्गुणों पर प्रहार करने का एक और मौका है। यह कहते हुए कि अहिंसा के परिणाम सार्वभौम नहीं होते, विक्रम द्वारा अपने इस सिद्धांत पर दुबारा जोर दिया जाता है कि लोगों की अच्छाई या बुराई उनके प्राकृतिक स्वभाव की देन होती है। इस उदाहरण में विक्रम कर्म का सिद्धांत भी घसीट लाते हैं। वे कहते हैं कि लोगों में पूर्व जन्मों के कर्म संचित रहते हैं जिनसे यह निर्धारित होता है कि उनका झुकाव सज्जनता की ओर होगा या दुर्जनता की तरफ। सज्जन और करुणावान लोगों की दुर्जन और दुष्ट लोगों से रक्षा करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है।⁵⁶ हिंसा को नख-दंत विहीन करना ही सम्यक् अहिंसा होती है।

शाक्य दूत ठीक इसी बिंदु पर विक्रम से प्रार्थना करता है कि वे संन्यास का संकल्प भंग करके पुनः अस्त्र धारण करें और जैसे भगवान कृष्ण ने मगरमच्छ के जबड़ों में फँसे हाथी को डूबने से बचाया था, वैसे ही शाक्य राष्ट्र को इस संकट से उबारें। वह बुद्ध से भी प्रार्थना करता है कि शाक्य राष्ट्र की रक्षा के लिए वे विक्रम को संघ छोड़ने की अनुमति प्रदान करें। सावरकर ने यहाँ भी बुद्ध के प्रत्युत्तर को इस तरह प्रस्तुत किया है कि उनका दृष्टिकोण कमजोर लगे तथा अहिंसा के विरुद्ध खड़ा किया गया तर्क मजबूत दिखाई दे। बुद्ध कहते हैं कि अगर शाक्य उत्पीड़न और निर्ममता की अग्नि में जल रहे हैं तो कोसल भी क्रोध और ईर्ष्या की ज्वाला में जल रहे हैं। बुद्ध की दृष्टि में दोनों स्थितियाँ एकसमान हैं। बुद्ध का निराकरण यह था कि दोनों देश अपने हृदय से शत्रुता की भावना निकाल दें। विक्रम द्वारा बुद्ध के इस तर्क को खारिज कर दिया जाता है कि शत्रुता और कुकृत्य दोनों तरफ है। उनके सामने स्थिति स्पष्ट थी कि शत्रु कौन है और उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। अहिंसा की भावना के कारण जब कोई देश बरसों बरस लगातार निर्बल होता जाता है तो उसे हर आक्रमण शत्रु के आक्रमण की तरह देखना चाहिए। इस तरह, ऐसा देश जब भी जवाबी कार्रवाई करता है तो उसके लिए यह कार्रवाई एक धर्मयुद्ध की तरह होती है।⁵⁷ विक्रम का किरदार बुद्ध से कहता है कि आपके प्रवचन सुनकर शेर और चीते तो अपनी शत्रुता भूल सकते हैं परंतु दुष्ट और दुर्जन यह संदेश कभी स्वीकार नहीं करेंगे; ऐसे लोगों का उन्मूलन केवल दण्ड के द्वारा ही किया जा सकता है।⁵⁸ इस पर बुद्ध असहमति जताते हुए कहते हैं कि दण्ड के आधार पर अर्जित विजय और नियंत्रण कभी स्थायी नहीं होते। दुष्टों को बदलने का एकमात्र ढंग यही है कि उन्हें दुष्टता की मानसिकता से मुक्त कराया जाए।

विक्रम द्वारा बुद्ध के इस कथन का उपहास उड़ाते हुए उसे खारिज कर दिया जाता है। विक्रम का यह खण्डन दो तर्कों पर आधारित है। इहलौकिक और पारलौकिक संसार को एक दूसरे से भिन्न करते हुए विक्रम का कहना है कि बुद्ध जिस तरह के समाधान सुझाते हैं उन्हें केवल कल्पना के लोक में ही लागू किया जा सकता है। दोनों संसारों के बीच यह अंतर करने के बाद वे पुनः दण्ड-शक्ति की केंद्रीयता पर जोर देते हैं। उनके अनुसार, कई बार यह दुर्जनता इतनी उदग्र हो जाती है कि बुद्ध की कही बात या उनका प्रतिनिधि भी गलत दिखने लगते हैं। कोसल का राजा परम दुर्जन की श्रेणी

⁵⁶ वही : 257.

⁵⁷ वही : 258.

⁵⁸ वही : 258.



में आता है। सम्भव है कि दण्ड के बावजूद उसमें कोई नैतिक परिवर्तन न आये परंतु इससे उसके बुरे और घृणास्पद कुकृत्यों का प्रभाव कम किया जा सकता है। दुष्ट व्यक्ति के दाँत और पंजे उखाड़ दिये जाने चाहिए : इससे भले ही उसकी आक्रांता मनोवृत्ति में कोई कमी न आये लेकिन संसार को उसकी हत्यारी और रक्तपिपासु आकांक्षाओं से जरूर बचाया जा सकता है।

संन्यास-धर्म को अहिंसा का समर्थक बताते हुए सावरकर द्वारा रचित बुद्ध⁵⁹ विक्रम के इस तर्क से सहमति जताते हुए प्रतीत होते हैं कि शक्तिशाली और दुष्ट व्यक्ति से मुठभेड़ होने की स्थिति में सदाचारी व्यक्ति को अहिंसा का पाठ पढ़ाने पर अहिंसा का यह चरम रूप हिंसा जितना ही खतरनाक हो जाता है। बुद्ध से यह तक कहलवाया गया है कि विक्रम के तर्क अकाट्य हैं। नाटक में एक ऐसी स्थिति पैदा की गयी है जिसका बुद्ध के व्यक्तित्व से कतई मेल नहीं बैठता : बुद्ध अपने गृहस्थ अनुयाइयों को कोसल के आक्रांताओं से लड़ने तथा शाक्य राज्य को कोसल के राजा विद्युतगर्भ से धर्मयुद्ध करने की अनुमति प्रदान कर देते हैं। इस क्रम में बुद्ध यह तक कह डालते हैं कि इस प्रसंग में हिंसा का पाप शाक्य राज्य की रक्षा करने वालों के बजाय कोसल के क्रूर आक्रांताओं के हिस्से में जाएगा। लेकिन विक्रम को उसके संन्यास-संकल्प से मुक्त करने से बुद्ध इंकार कर देते हैं और इसका औचित्य प्रतिपादित करते हुए वे अहिंसा को संन्यास तथा भिक्षुधर्म का आधारभूत सिद्धांत घोषित करते हैं।

इस पर विक्रम का कथन है कि बुद्ध नीतिगत और आचरण संबंधी अस्पष्टता बरत रहे हैं। वे बुद्ध को फटकारने के स्वर में कहते हैं कि संन्यासी सांसारिक विषयों से मुँह नहीं फेर सकता; वह सही और गलत, उचित और अनुचित के प्रति एक दृष्टिकोण नहीं अपना सकता। जीवन में हमें विभिन्न स्थितियों के बीच अंतर करना ही पड़ता है। विद्युतगर्भ की दुष्टता और शाक्यों की दशा को एक ही तराजू में रख कर तौलना निर्णय और विवेक का अभाव दर्शाता है। बुद्ध शायद ही कभी ऐसा प्रश्न पूछते, परंतु नाटक में वे विक्रम से यह प्रश्न करते हैं कि शत्रु द्वारा पैदा किये गये संकट की स्थिति में संन्यासी का क्या कर्तव्य होना चाहिए। विक्रम का उत्तर पूर्वानुमेय है : 'अगर स्वर्ग प्राप्ति की चाह में भिक्षु पशु-बलि को क्रूर कर्म समझता है तो अहिंसा के नाम पर नियमित नरसंहार की अनुमति प्रदान करना संन्यासी के लिए शर्म की बात है। यह जीव-हत्या से सौ गुणा क्रूर कार्य है।'⁶⁰ अपना दृष्टिकोण

⁵⁹ वही : 259-260.

⁶⁰ वही : 261.

स्पष्ट कर देने के बाद विक्रम बुद्ध से एक बार फिर आग्रह करते हैं कि वे उसे युद्ध में शामिल होने की अनुमति प्रदान करें। लेकिन, बुद्ध का उत्तर एक बार फिर इस तरह गढ़ दिया गया है कि वे अनैतिक और असंवेदनशील नज़र आयें। विक्रम द्वारा शत्रु का संहार किये जाने का मज़बूत तर्क सुन कर बुद्ध प्रश्न करते हैं कि, 'इससे क्या लाभ होगा?'⁶¹ और, यह कहकर विजय या पराजय की क्षणभंगुरता पर विचार करने लगते हैं। बुद्ध के व्यक्तित्व को आभाहीन करने और अहिंसा के विचार को धूल चटाने के लिए सावरकर बुद्ध से यह कहलवाते हैं कि जय अथवा पराजय से बैर-भाव समाप्त नहीं होगा, अतः संन्यासी ऐसे विषयों को ज़्यादा महत्त्व न देकर शांतचित्त रहता है और सुख की नींद सोता है।

बुद्ध के इस कथन से हतप्रभ होकर विक्रम का उनसे कहना है कि यदि चैन की नींद सोना ही संन्यासी की विशेषता होती है तो ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् उन्हें निर्वाण की अवस्था में ही निद्रामग्न होकर शरीर त्याग देना चाहिए था।

शाब्दिक स्तर पर वे बुद्ध के इस कथन से सहमत हैं कि विजय का परिणाम शत्रुता में ही निकलता है तथा पराजित पक्ष अंततः विषाद का शिकार बनता है। लेकिन पराजित के विषाद का समर्थन करने वाले तर्कों का मतलब न्याय को पराजित करना नहीं होता। इस तरह के विचारों से सदाचारी लोगों के ऊपर दुष्टों के कुशासन को वैधता मिलती है। इसलिए, 'कई बार किसी का विषाद दूसरों के कल्याण के लिए आवश्यक हो जाता है।'⁶² एक ऐसा संन्यासी जो नींद में खलल पड़ने की चिंता करता हो या सक्षम होने के बावजूद वह खड़ग लेकर राक्षस पर नहीं टूट पड़ता तो वह भर्त्सना का ही पात्र हो सकता है। यह बात कहकर विक्रम बुद्ध से एक बार पुनः युद्ध में शामिल होने की अनुमति माँगते हैं, लेकिन बुद्ध संन्यस्त जीवन के प्रथम सिद्धांत का हवाला देकर उसे फिर मना कर देते हैं।

व्यग्र, कुपित, क्षुब्ध और संयमहीन हो रहे विक्रम अफ़सोस के साथ कहता है कि बुद्ध एक निर्बल संन्यास-धर्म को सर्वोच्च धर्म का उदाहरण बना कर प्रस्तुत कर रहे हैं।⁶³ वे दूत से कहते हैं कि शाक्यों के साथ युद्ध में खड़े होने की उत्कट इच्छा के बावजूद वे बुद्ध के वचन से बँधा हुआ है। इस पर दूत विक्रम को उनकी कृपाण दिखाता है और उनके सामने विद्युतगर्भ द्वारा किये गये अत्याचारों का हाल सुनाता है। विक्रम फिर बुद्ध की ओर देखते हैं और दुबारा खड़ग उठा कर कोसल नरेश के विरुद्ध युद्ध में उतरने की अनुमति चाहते हैं। लेकिन बुद्ध टस से मस नहीं होते। इस बिंदु पर विक्रम संन्यास का संकल्प त्यागने का निर्णय करते हैं। निर्विकल्प अहिंसा को दुष्टों की हितसाधक तथा सदाचारी के लिए अनिष्टकारी क्रार करते हुए विक्रम द्वारा अहिंसा को अधर्म घोषित कर दिया जाता है। वे कहते हैं, 'मैं निर्बलता के द्योतक, समुदाय के प्रति हानिकर तथा मानवीय हितों की अवहेलना करने वाले इस संन्यास का परित्याग करता हूँ।'⁶⁴ इसके पीछे भाव यह है कि दुबारा कृपाण ग्रहण करने से राष्ट्रीय धर्म, मानवीय धर्म की पुनः प्रतिष्ठा होगी तथा सभी प्रकार के जड़-चेतन जीवों का कल्याण होगा।

नाटक के तीसरे अंक में विद्युतगर्भ को अपने सेनापति के साथ मंत्रणा करते दिखाया गया है। शाक्यों के साथ अपनी शत्रुता की बात करते हुए वह बुद्ध की अहिंसा का उपहास करता है। युद्ध के परित्याग के आह्वान पर तंज करते हुए विद्युतगर्भ कहता है कि ऐसा करना शेर के दाँतों को किसी वृद्ध स्त्री के मसूढ़ों जैसा मुलायम और कमज़ोर बनाने जैसी हरकत होगी। विद्युतगर्भ का सेनापति उसकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहता है :

⁶¹ वही : 261.

⁶² वही : 262.

⁶³ सावरकर विवेच्य नाटक में 'धर्म' का प्रयोग कर्तव्य, क़ानून तथा धर्म जैसे संदर्भों के लिए करते हैं। इस पद की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें, एल्फ़ हिल्टेबेतेल (2011).

⁶⁴ सावरकर समय : 265.

अगर बुद्ध के प्रवचनों को सुनकर शेर अपने नाखून और दाँत उखाड़ लेने का निर्णय कर ले तो उसकी पीठ पर बंदर सवारी करने लगेंगे, और जंगल में विचरण करता हिरण उससे यौन-सुख की माँग करने लगेगा।⁶⁵

इसके बाद अगले दृश्य में वल्लभ द्वारा कोसल की सेना से युद्ध करने की तैयारी की जा रही है। उसकी पत्नी सुलोचना ने भी पुरुष का वेश धारण करके युद्ध में लड़ने का निर्णय कर लिया है। चौथे दृश्य में विक्रम सैन्य टुकड़ियों के दो नायकों तथा पुरुष वेश में उपस्थित सुलोचना से मंत्रणा कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि जीवन का यह संकट इसलिए पैदा हुआ है क्योंकि हमारे राष्ट्र ने अस्त्रों की अवहेलना की है।

चौथे दृश्य में पुरुष-वेशधारी सुलोचना सावरकर के हिंसा-महात्म्य को एक नये स्तर पर ले जाने को तैयार दिखती है।⁶⁶ वह खीझ भरे शब्दों में कहती है कि अस्त्रों का परित्याग करना अच्छी बात थी। सैनिक को अपने अस्त्र में व्यक्त किया गया भरोसा तब हासिल होता है जब उसका अस्त्र शत्रु के गले को चीर डालता है। सुलोचना के अनुसार अस्त्र 'छोड़ने' का सही अर्थ यही होता है। तीर को निर्धारित लक्ष्य पर साधना, ध्वज फहराते हुए खड्ग से वार करना आदि भी इतने ही सम्मान के हकदार हैं और इन कृत्यों का अनुकरण किया जाना चाहिए। अभी तक संसंख में बुद्ध के संदेश की व्यर्थता, अहिंसा के विनाशकारी प्रभावों तथा राज्य/राष्ट्रों द्वारा अस्त्रों के प्रति उदासीनता बरतने से पैदा होने वाली विपत्तियों आदि पर बल दिया गया है। इनके साथ संन्यासी और गृहस्थ की समतुल्यता, शांतिपरक अहिंसा के ऊपर प्रतिशोध व सशस्त्र 'प्रामाणिक अहिंसा' की सर्वोच्चता सिद्ध करने जैसे कुछ अन्य उपाख्यान भी हमारा ध्यान खींचते हैं। सुलोचना इसमें एक नया आयाम जोड़ती है। वह आग्रहपूर्ण शब्दों में कहती है कि ज़रूरी नहीं है कि युद्ध में हमेशा विजय ही प्राप्त हो, परंतु व्यक्ति हमेशा प्रतिशोध ले सकता है और शत्रु का संहार करते हुए प्राण न्यौछावर कर सकता है। सावरकर सुलोचना के चरित्र को यह कहने के लिए प्रोत्साहित करते हैं कि प्रतिशोध न केवल एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है बल्कि सामूहिक कल्याण हेतु सर्वोच्च कर्तव्य भी होता है।

साँप की पूँछ पर पैर पड़ते ही वह फुफकार मारता है और उस आदमी को डसने की कोशिश करता है। स्वयं मरते हुए भी वह अपने शत्रु की मृत्यु का कारण बन जाता है। उसकी यह प्रतिक्रिया विजय के लिए नहीं बल्कि प्रतिशोध के लिए होती है। मनुष्य साँप से इसीलिए डरता है कि क्योंकि उसमें प्रतिशोध लेने की भावना रहती है।⁶⁷

और इसीलिए

जीवधारियों को प्रतिशोध लेने की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रकृति से इसीलिए मिली है। यही कारण है कि आक्रांता अपने पापपूर्ण कृत्यों को कभी आसानी से अंजाम नहीं दे पाता। यही संसार को सुरक्षित रखने का सिद्धांत है।⁶⁸

सुलोचना की इन बातों को सुनकर विक्रम उसे शाबासी देता है। वे न्याय के युद्ध में भाग लेने के लिए उसकी प्रशंसा करते हैं। वे उसे महान संन्यासी घोषित करते हैं क्योंकि उसमें संवेदना-निग्रह, द्वैधभाव से मुक्ति तथा असम्पृक्ति जैसे तत्त्व मौजूद हैं और इन्हीं भावनाओं के कारण कोई संन्यासी महान बनता है।

⁶⁵ वही : 267.

⁶⁶ इस तथ्य से लोगबाग भली-भाँति परिचित हैं कि बौद्धिकता के लिहाज से सावरकर हरबर्ट स्पेंसर के ऋणी हैं। संसंख में सावरकर जिस तरह प्रतिशोध, प्रत्याक्रमण और हिंसा का आह्वान करते हैं उस पर स्पेंसर द्वारा आक्रामकता, प्रतिशोध तथा न्याय आदि के संबंध में लिखे गये निबंधों की छाया देखी जा सकती है। स्पेंसर के आक्रामक समाज से संबंधित एक निबंध में इस सहधर्मिता के अन्य उदाहरण देखे जा सकते हैं। देखें, हरबर्ट स्पेंसर (1978) : 371-382 ; 393-400. ; 4-5: 41-64; हरबर्ट स्पेंसर (2003) : 568-602.

⁶⁷ सावरकर समग्र : 286.

⁶⁸ वही : 287.

नाटक के अंतिम दृश्य में विद्युतगर्भ का सेनापति चण्ड बुद्ध की हत्या करने का प्रयास करता है। लेकिन विक्रम द्वारा चण्ड को पराजित करके उसकी हत्या कर दी जाती है। परंतु इस हमले के ऐन बीच में भी सावरकर विक्रम को ऐसे संवाद उपलब्ध कराते हैं जिनसे बुद्ध के शांति, करुणा तथा अहिंसा के सिद्धांतों का उपहास किया जा सके। बुद्ध इस हत्या की निंदा करते हैं और विक्रम तथा चण्ड को अमिट पाप का भागी मानते हैं। इस पर विक्रम बुद्ध उपहास करते हुए कहते हैं कि चण्ड के रक्त से संन्यासी का सपाट और पीताभ चीवर ऐसे रंगों से मण्डित हो गया है कि वह चढ़ते सूर्य की रक्तिम किरणों जैसा दिखाई दे रहा है। चालीस वर्ष के संन्यास से उसे वह पुण्य प्राप्त नहीं हुआ जो आज छोड़े हुए खड्ग को दुबारा उठाकर हासिल हुआ है क्योंकि इसी के कारण असंख्य निर्दोष लोगों को जीवनदान मिल सका। विक्रम कहते हैं कि उनका संन्यास आज ही प्रामाणिक सिद्ध हुआ है।



अपने नाटक *संगीत संन्यस्त खड्ग* के जरिये सावरकर हिंसा की वैधता सिद्ध करना चाहते थे। बाहरी सतह पर इसे गाँधी के अहिंसक प्रतिरोध की प्रतिक्रिया के तौर पर भी पढ़ा जा सकता है। परंतु नाटक के पाठ को सघनता और नज़दीकी से देखने पर उसमें दो स्पष्ट विचारधाराएँ लक्षित की जा सकती हैं। इसमें पहला विचार इस तर्क से संचालित है कि जीवन का कोई भी कोना राजनीति से अछूता नहीं रहता तथा राजनीति की परिभाषा, निर्धारण तथा उसके सीमांकन में हिंसा की कई परतें और स्तर मौजूद रहते हैं। यह दूसरा विचार हिंसा को गृहस्थ के आदर्श में समाहित करके सर्वसुलभ बनाना चाहता है। चूँकि सामान्य हिंसा अनिवार्य रूप से सुलभ हिंसा थी, इसलिए उसकी कोई सीमा रेखा तय करना मुश्किल था। हिंसा का यह सामान्य रूप आधुनिक राष्ट्र-राज्य के हाथ में एक ऐसा औज़ार था जिसे वह अपने हिसाब से नियंत्रित और उसका मनचाहा इस्तेमाल कर सकता था। इन दोनों तर्कों में दो सूत्र विशेष महत्त्व रखते हैं : संन्यास की अस्वीकृति और बुद्ध को अहिंसा के प्रतिनिधि के रूप में दर्शाना। इन दोनों सूत्रों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि सावरकर के साथ-साथ हिंदू राष्ट्रवाद की राजनीति का नक्शा इन्हीं सूत्रों से बनता है।

सावरकर की समझ का पहला बड़ा खोट बुद्ध के विचारों का ग़लत प्रस्तुतीकरण है। बुद्ध की शिक्षाओं के संबंध में पाठ की यह गड़बड़ लगभग सभी प्राच्यवादियों और राष्ट्रवादियों के यहाँ मिलती है। बुद्ध के जीवन और उनके विमर्श को समझने के क्रम में व्याख्याओं की इस क़वायद⁶⁹ का बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित प्रत्यय के पाठगत और संहिताबद्ध स्रोतों पर कुछ ज़्यादा ही जोर रहता है। यह काम करते हुए इस बात का दूर-दूर तक खयाल नहीं रखा जाता कि बौद्ध धर्म के इन ग्रंथों से उसके बहुत से अनुयाइयों का प्रारम्भिक काल से ही कोई परिचय नहीं रहा है। यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है कि भिक्षु और सामान्य अनुयाई इन ग्रंथों से परिचित थे या वे उनका महत्त्व जानते थे तथा उनमें वर्णित बातों का अक्षरशः पालन करते थे। सच्चाई यह है कि इस प्रकार के ग्रंथ शास्त्रों की एक ऐसी श्रेणी में आते थे जिन्हें 'आदर्शमूलक सिद्धांत की औपचारिक साहित्यिक अभिव्यक्ति'⁷⁰ कहा जा सकता था। लेकिन, उनके रचयिताओं की ऐसी कोई मंशा नहीं थी कि उन्हें 'ऐतिहासिक' यथार्थ का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब माना जाए। लेकिन बौद्ध धर्म तथा बुद्ध के सिद्धांतों पर आधारित इन अपर्याप्त व्याख्याओं में 'सावधानीपूर्वक गढ़ी गयी आदर्शमूलक प्रस्थापनाओं'⁷¹ को ऐतिहासिक यथार्थ के समानांतर खड़ा कर दिया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि 'पाठ यथार्थ पर हावी' होने लगता है।⁷² ऐसी

⁶⁹ ग्रेगरी शोपेन (1997) : 2-6.

⁷⁰ वही : 3.

⁷¹ वही : 3.

⁷² वही : 7.

व्याख्याओं में यह मान लिया गया था कि किसी ग्रंथ में प्रस्तावित आदर्श वर्तमान समय में प्रचलित होगा अथवा सुदूर अतीत में ज़रूर प्रचलन में रहा होगा। अधिकांश मामलों में इस बात के साक्ष्य बहुत कम मिलते हैं कि बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध धर्म के सामान्य अनुयाइयों के जीवन में किसी संहिता और उसमें निबद्ध आदर्शों का समग्र या आंशिक स्तर पर पालन किया जाता था।

सावरकर के परिप्रेक्ष्य और प्रस्तुतीकरण की दूसरी बड़ी सीमा यह है कि उसमें बुद्ध मसीहाई उत्साह से लैस एक धर्मयोद्धा के रूप में उभरते हैं। संसंख में लोगों को बुद्ध के हाथों बड़ी संख्या में संन्यास ग्रहण करते, संसार के प्रति वैराग्य पैदा करने वाले प्रवचन देते तथा रुग्णता, बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय पाने के हल सुझाते दिखाया गया है। इनसे बुद्ध के बारे में एक ऐसे व्यक्ति की छवि उभरती है जो हमेशा परमार्थ में लगा रहता था। इस दृष्टिकोण के विपरीत बौद्ध धर्म से संबंधित प्रमुख निकायों को पढ़ने से पता चलता है कि एक धर्म और सामाजिक संरचना के तौर पर बौद्ध धर्म कर्म, पुनर्जन्म और देहांतरण जैसे प्रश्नों के इर्द-गिर्द गठित हुआ है।⁷³ बुद्ध के अनुसार कर्म भौतिक या मानसिक क्रियाकलाप नहीं था। उसका आशय उन मंतव्यों और कामनाओं से था जिनके कारण व्यक्ति पुनर्जन्म की ओर प्रवृत्त होता है।⁷⁴ दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का प्रारब्ध इस बात से निर्धारित होता है कि उसके मस्तिष्क में क्या इच्छाएँ और मंशाएँ उत्पन्न हो रही हैं।⁷⁵ एवियाटार शुल्मैन के अनुसार बुद्ध की शिक्षाओं का सरोकार इस बात से है कि मस्तिष्क संसार तथा अस्तित्व के अनुभव को किस तरह अनुकूलित करता है। उनकी शिक्षा का अभिप्रेत मस्तिष्क की कार्यप्रणाली— 'मानसिक अनुकूलन की विभिन्न प्रक्रियाओं तथा उनके संबंधों का विश्लेषण है'।⁷⁶ इसलिए, बुद्ध का सिद्धांत मुख्यतः एक ऐसे तत्त्वशास्त्र से सम्बद्ध है जिसमें पुनर्जन्म की घटना को समाप्त करने के लिए चेतना के अनुकूलन को विशेष महत्त्व दिया गया है :

चूँकि सामान्य हिंसा अनिवार्य रूप से सुलभ हिंसा थी, इसलिए उसकी कोई सीमा रेखा तय करना मुश्किल था। हिंसा का यह सामान्य रूप आधुनिक राष्ट्र-राज्य के हाथ में एक ऐसा औज़ार था जिसे वह अपने हिसाब से नियंत्रित और उसका मनचाहा इस्तेमाल कर सकता था। इन दोनों तर्कों में दो सूत्र विशेष महत्त्व रखते हैं : संन्यास की अस्वीकृति और बुद्ध को अहिंसा के प्रतिनिधि के रूप में दर्शाना। इन दोनों सूत्रों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि सावरकर के साथ-साथ हिंदू राष्ट्रवाद की राजनीति का नक्शा इन्हीं सूत्रों से बनता है।

भिक्षु जिस रूपांतरण का अनुभव करता है उसे चेतना के वर्तमान विषयों की सुलभता का नाम नहीं दिया जा सकता। इसे वस्तुओं की 'यथास्थिति' का निरावृत्त बोध भी नहीं कहा जा सकता। इसके बजाय इस रूपांतरण को दृष्टिबोध के एक ऐसे अनुकूलन तथा सजगता की संघटना रूप में समझना ज्यादा बेहतर होगा जिसका अभिप्रेत एक विशिष्ट अनुभव की रचना करना होता है। यह एक नयी

⁷³ एवियाटार शुल्मैन : 1.

⁷⁴ योहान ब्रोंखुस्त (1998) : 14.

⁷⁵ वही : 16.

⁷⁶ एवियाटार शुल्मैन (2008) : 305.

तरह का दृष्टिबोध है जो यथार्थ को अनित्य, विषाद तथा आत्म से इतर के रूप में देखता है। बौद्ध धर्म में यथार्थ का निरूपण बहुत कुछ इसी से मिलता है।⁷⁷

इस प्रकार, बुद्ध की शिक्षाओं का केंद्र मस्तिष्क की कार्यप्रणाली, मानसिक अनुकूलन की प्रक्रिया तथा उनके संबंधों में निहित है। उनके प्रवचनों में जब वास्तविक संसार और पदार्थों का उल्लेख होता है तथा दुःख, विषाद और क्लेश के निवारण की बात की जाती है तो उसे बुद्ध के प्रस्तावित तत्त्वशास्त्र के साथ रखकर पढ़ा जाना चाहिए।

इसके बाद हम बुद्ध और उनकी मूलगामी अहिंसा की बात करेंगे। यह बात अब तक भली भाँति स्पष्ट हो चुकी है कि बुद्ध की शिक्षाओं का मुख्य उद्देश्य भौतिक यथार्थ को बदलना नहीं बल्कि मनोवृत्ति में बदलाव करना था। बहरहाल, अहिंसा के प्रति बुद्ध के दृष्टिकोण को विशद परिप्रेक्ष्य में रख कर देखने की ज़रूरत है।⁷⁸ किसी भी बौद्ध अनुयायी का पहला नीतिवचन *पाणातिपाता वेरमणि* अथवा जीवधारियों की हत्या से निग्रह करना है। इनमें तीसरा और चौथा धर्मादेश विजयोन्मुख युद्ध, लूटपाट और बलात्कार से दूर रहने का निर्देश देता है। गृहस्थ को हिंसा से बचने का परामर्श देते हुए स्वयं हिंसात्मक आचरण की भर्त्सना करने के बजाय यह कहा गया है हिंसा से धम्म का उल्लंघन होता है :

क्या गृहस्थ के तीन शारीरिक क्रियाकलाप धम्म के प्रति विमुखता प्रदर्शित करते हुए दुराचरण की श्रेणी में नहीं आते? जीवधारियों की हत्या, मारपीट और हिंसा करना तथा जीवधारियों के प्रति निर्दयी होना धम्म का उल्लंघन करना है।⁷⁹

अपने 'काम से विमुख' और हर बात से 'असम्पृक्त' हो चुके गृहस्थ को बुद्ध जीव-हत्या से बचने का परामर्श देते हैं।⁸⁰ बुद्ध कहते हैं कि जीव-हत्या करने से बाज़ न आने वाले व्यक्ति का प्रारब्ध विषादपूर्ण होगा। लेकिन जीवों की हत्या करना एक *सण्णोजना* (बेड़ी) और बाधा भी है जिसके कारण व्यक्ति दूषण, संताप और ज्वर से ग्रस्त हो जाता है।⁸¹ यहाँ इस तथ्य पर ध्यान देना ज़रूरी है कि बुद्ध की शिक्षाओं में जीव-हत्या सण्णोजना के दस प्रकारों और पञ्च निवारण (पाँच प्रकार की बाधाएँ) में शामिल नहीं की गयी है परंतु उसे फिर भी इसी श्रेणी के आसपास रख कर देखा जाता रहा है क्योंकि वह व्यक्ति को पुनर्जन्म की ओर ले जाती है तथा उसके कल्याण में बाधक सिद्ध होती है। भिक्षु को निर्देश है कि वे जीवों की हत्या न करें और 'डण्डे और हथियारों' ⁸² से दूर रहें। यह उस नीति और आत्मिक संहिता का अंग है जो भिक्षुओं को विनम्रता, उदारता और करुणा की सीख देती है।

बुद्ध के प्रवचनों में यह प्रश्न अक्सर उठता है : दूसरों को दुःख और कष्ट पहुँचाने वाला व्यक्ति किस तरह का होता है? इसके उत्तर में जो कहा गया है उसमें सबसे लोकप्रिय सूत्र एक अनंतिम सूची के रूप में सामने आता है।⁸³ उसके अनुसार, भेड़ और सूअरों को काटने वाला, बहेलिया, जंगली पशुओं को फंदे में फँसाने वाला, मछुआरा, चोर, वधिक, कारागार का संचालक तथा रक्तपात से जुड़े अन्य कार्य करने वाले लोग दूसरे लोगों को दुःख और कष्ट पहुँचाते हैं। बलि का आयोजन करने वाला उच्चकुलीन तथा विधिवत् रूप से अभिषिक्त राजा और सम्पन्न ब्राह्मण जब इसके लिए बैलों, बछड़ों, बकरियों और भेड़ों के संहार तथा पेड़ों व घास की कटाई का आदेश देते हैं; तथा दासों, संदेशवाहकों और नौकरों को दण्ड का भय दिखाकर उन्हें अपने इस कर्म में शामिल कर लेते हैं तो यह कर्म भी

⁷⁷ एबियाटार शुल्मैन (2010) : 403.

⁷⁸ लैम्बार्त स्मिथॉर्सेन (1999) : 45-46.

⁷⁹ *मज्झिम निक्काय*, सालेय्यक सुत्त, I 286.8 : 380.

⁸⁰ *मज्झिम निक्काय*, 54 : 4.

⁸¹ वही : 54 : 4.

⁸² वही. 27 : 13.

⁸³ वही : 59; 9-10. यह भी देखें, भिक्कु बोधि (2012) (अनु.) तथा मॉरिस वाल्से (1987) (अनु.).

दूसरों को दुख और कष्ट पहुँचाने वाला होता है। इसी तरह, उपनाह⁸⁴ अर्थात् प्रतिशोध भी एक ऐसा ही कर्म है जिसे विवाद के छह स्रोतों में एक माना गया है। क्रोध से उत्पन्न होने वाली यह विकृति मस्तिष्क को दूषित कर देती है।

हत्या, क्रूरता, परपीड़न, प्रतिशोध और यातना से बचने का पहला क़दम *अविहिंसा* अथवा करुणा का पालन करना है। इस कथन में यह अनिवार्य रूप से निहित है कि व्यक्ति क्रूरता और जीव-हत्या के प्रति सजग रहे।⁸⁵ लेकिन बुद्ध का कहना है कि इसका एक ज़्यादा स्थायी समाधान मस्तिष्क की धुरी और उसके विन्यास को बदलना है। इस तरह देखें तो क्रूरता का विचार पहले स्वयं को कष्ट पहुँचाता है और फिर दूसरों के दुख का कारण बनता है। वह ज्ञान के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है, समस्याएँ पैदा करता है और व्यक्ति को निब्बान (निर्वाण) के रास्ते से भटका देता है।⁸⁶

क्रूरता का विचार एक ऐसा दूषण है जो ऐसे विचारों का उन्मूलन करके ही हटाया जा सकता है।⁸⁷ यह काम मस्तिष्क के अण्डे हटाने जैसा ही है। राहुल से इसीलिए यह कहा गया है कि वह करुणा पर ध्यान एकाग्र करे क्योंकि करुणा का बोध विकसित होते ही 'क्रूरता समाप्त हो जाएगी'।⁸⁸ इस तरह मस्तिष्क को संस्कारित करके क्रूरता पर विजय पाई जा सकती है।⁸⁹ इसका कारण यह है कि मस्तिष्क दो, संस्कारित और असंस्कारित, दिशाओं में गति करता है। इन प्रवचनों से क्रूरता तथा जीव-हत्या के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है, लेकिन इन प्रवचनों से ऐसा कोई दृष्टांत नहीं मिलता कि वास्तविक जीवन में इन सिद्धांतों का उल्लंघन करने पर क्या परिणाम सामने आते हैं। इस संदर्भ में भिक्षुओं और गृहस्थ को जिन परिणामों का संकेत दिया गया है वह यह है कि उपरोक्त सिद्धांतों का उल्लंघन करने पर उन्हें मनचाहा पुनर्जन्म नहीं मिल सकेगा।

राजाओं, विशेषकर क्षत्रिय राजाओं के प्रसंग में बुद्ध उनके क्रोध, अनुशासन लागू करने और देश निकाला देने जैसे कार्यों को उनकी वैधतापूर्ण भूमिका का अंग बताते हैं।⁹⁰ क्षत्रिय राजा की भूमिका को स्थिरता और दृढ़ता प्रदान करने वाले पाँच कारकों की गणना करते हुए बुद्ध राजा की शक्ति और उसकी चतुर्भुज सेना की आज्ञाकारिता व आदेश-पालन के प्रति निष्ठा का उल्लेख करते हैं।⁹¹ खत्तिय (क्षत्रिय) राजा को परामर्श देते हुए बुद्ध कहते हैं कि उसे तीन प्रकार के स्थान हमेशा याद रखने चाहिए। बुद्ध की इस सूची में तीसरा 'स्थान वह है जहाँ क्षत्रिय राजा युद्ध में विजयी होकर रणभूमि के मुख्य भाग में विराजता है'।⁹² राजत्व संबंधी कार्यों की चर्चा करते हुए बुद्ध राजा द्वारा लुटेरों तथा अपराधियों की गिरफ्तारी और उनके सिर क़लम किये जाने का उल्लेख करते हैं।⁹³ वस्तुतः बुद्ध की चर्चा में राजा द्वारा दिये जाने वाले भयंकर क्रिस्म के दण्डों की एक ऐसी लम्बी सूची देखी जा सकती है।⁹⁴ अंत में, बुद्ध यह भी कहते हैं कि अगर वे स्वयं भी ऐसे कृत्यों में लिप्त होने लगे तो उन्हें भी ऐसा ही दण्ड मिलना

⁸⁴ वही 7 : 3; 104: 6.

⁸⁵ *मज्झिम निक्काय*, 8: 12.

⁸⁶ वही, 19 : 5.

⁸⁷ वही, 2 : 20; 33 : 6.

⁸⁸ वही, 62 : 19.

⁸⁹ वही, 114 : 8.

⁹⁰ *दीघ निक्काय*, III.94.20.

⁹¹ *अंगुत्तर निक्काय*, III.151-152.

⁹² वही, I.106-107.

⁹³ वही, I. 47-49.

⁹⁴ वही, I. 47-49. बुद्ध ने दण्ड के इन रूपों का वर्णन किया है: कोड़े, डण्डे और लाठी से पिटाई करना, हाथ, कान तथा नाक काट लेना; दण्ड के संबंध में कुछ विधियों का भी उल्लेख किया गया है. इनमें एक विधि की तुलना 'दलिया की हॉडी' से की जा सकती है. इसमें अपराधी व्यक्ति को खोपड़ी को फाड़ कर उसमें चिमटों की सहायता से लोहे के गर्म गोले डाल दिये जाते थे और मस्तिष्क को तब तक उबाला जाता था जब तक उसके भीतर की सामग्री बाहर न आ जाए. इसके अगले चरण में व्यक्ति के ऊपरी होंठ, कान के नीचे की जगह

चाहिए। अपराध के इन कृत्यों को बुद्ध वर्तमान जीवन की विसंगतियों का परिणाम बताते हैं और यह भी कहते हैं कि दण्ड का भय ही उन्हें ऐसे काम करने से रोकता है। लेकिन, इन गलतियों की एक दूसरी श्रेणी भी है जो आगामी जीवन से संबंध रखती है। इसी प्रकार, मनुष्य भी आगामी गलतियों के डर से अपने दैहिक, भाषिक और मानसिक आचरण को संयमित रखता है। एक दूसरे उल्लेखनीय उदाहरण⁹⁵ में बुद्ध अग्गिवेस्सन से प्रश्न करते हैं : क्या विधिवत् रूप से अभिषिक्त और उच्चकुलीन पसेंडी (कोसल का राजा) अथवा मगध का राजा अजातशत्रु वैदेहीपुत्र अपने राज्य क्षेत्र में मृत्युदण्ड के दोषियों को दण्ड देने की सामर्थ्य रखते हैं? अग्गिवेस्सन इसका उत्तर हाँ में देता है। बुद्ध का यह प्रश्न अग्गिवेस्सन के इस कथन के प्रत्युत्तर में उठा था : 'भौतिक रूप मैं ही हूँ, भावना मैं ही हूँ, धारणा मैं ही हूँ, रूपाकार मैं ही हूँ, चेतना मैं ही हूँ।' यह उत्तर मिलने के बाद कि राजाओं को अपने राज्य-क्षेत्र में लोगों को मृत्युदण्ड देने का अधिकार होता है, बुद्ध अग्गिवेस्सन से पूछते हैं कि क्या राजाओं की भाँति वह भी भौतिक रूप पर इस सीमा तक अधिकार जता सकता है कि 'मेरा रूप ऐसा ही बन जाए'। अगर वह ऐसा नहीं कर सकता तो फिर 'आत्म' के विषय में उसका कथन मिथ्या है। इस तरह, तत्त्वशास्त्रीय विषय पर बात करते हुए बुद्ध तत्कालीन राजसी शक्तियों की भी पुष्ट करते जाते हैं।

राजसी शक्तियों, विशेषाधिकारों, लोगों का जीवन हरने, युद्ध, आक्रमण अथवा आत्मरक्षा जैसे मामलों में बुद्ध कोई निर्णय नहीं सुनाते। वे युद्ध की घोषणा अथवा दण्ड के रूप में भयावह क्रूरताओं को भी अनैतिक अथवा वर्ज्य घोषित नहीं करते। अजातशत्रु (अजातशत्रु) और पसेंडी (प्रसेनजित) जैसे राजाओं के साथ वार्तालाप करते हुए बुद्ध अपने नैतिक ब्रह्माण्ड के सामान्य सिद्धांतों की पुनरावृत्ति करते हैं तथा उन्हें मुक्ति के मार्ग का अग्रदूत घोषित करते हैं। प्रारम्भिक सुत्तों में— जिन्हें बुद्ध के विचारों का प्रामाणिक स्रोत माना जाता है, युद्ध का प्रश्न एक बार भी प्रत्यक्ष ढंग से नहीं उठाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन राजाओं को बौद्ध नैतिकता के सामान्य सिद्धांतों से तो परिचित कराया गया था परंतु इन सिद्धांतों को राजनीति पर लागू करने या न करने का निर्णय उन्हीं पर छोड़ दिया गया था।⁹⁶ अजातशत्रु द्वारा युद्ध छेड़ने की मंशा, मगध के प्रधानमंत्री वस्सकार को बुद्ध के पास भेजने और उन दोनों के बीच होने वाले वार्तालाप से इस संबंध में काफ़ी जानकारी मिलती है।⁹⁷ बुद्ध इस प्रस्तावित युद्ध के विषय में कुछ नहीं कहते। इस विपदा के बारे में वे परोक्ष रूप से भी कुछ नहीं कहते और न ही अहिंसा के गुणों का ही कोई उल्लेख करते हैं। इस प्रसंग में बुद्ध राजनीति के बृहत्तर प्रश्नों से उदासीन दिखते हैं। सच तो ये है कि बुद्ध का वक्तव्य सुनने के बाद राजनीति का प्रश्न खुद वस्सकार ही उठाता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि शाक्यों पर विजय प्राप्त करने के लिए अजातशत्रु को पड़्यंत्र का सहारा लेना होगा और उनके बीच फूट पैदा करनी पड़ेगी।



और भोजन की नली के पास की त्वचा काट दी जाती थी तथा सिर के बालों का झोंटा बनाकर एक डण्डे से बाँध दिया जाता था। इस डण्डे को खींचने पर त्वचा के साथ-साथ सिर के बाल भी उखड़ जाते थे। इसके बाद खोपड़ी पर दरदरा रेत रगड़ कर उसे तब तक धोया जाता था जब तक उसका रंग शंख की तरह न हो जाए। इसके अगले चरण की तुलना 'राहू के मुँह' से की जा सकती है, जिसके तहत संबंधित व्यक्ति के मुँह को एक नोकदार छड़ से जबरन खोल कर उसमें जलता हुआ दिया रख दिया जाता था या उसके मुँह के अंदर तब तक चोट मारी जाती थी जब तक उसका मुँह खून से पूरी तरह न भर जाए। दण्ड के एक अन्य रूप के अंतर्गत अपराधी व्यक्ति के पूरे शरीर पर तेल से भीगा वस्त्र लपेट कर आग लगा दी जाती थी। इसी का एक रूप वह भी था जिसके तहत व्यक्ति के हाथ पर तेल से भीगा कपड़ा बाँध कर उसमें आग लगा दी जाती थी जिससे उसका हाथ दिये की तरह जलने लगता था। शारीरिक दण्ड के इन तरीकों में दोषी व्यक्ति पर खौलता हुए तेल उड़ेल देने, उस पर कुत्ते छोड़ देने, टिकटी पर बाँधकर कीलों से गुदवाने तथा तलवार से सिर काटने जैसे तरीके भी प्रचलित थे। पृ. 1621 भी देखें।

⁹⁵ मज्झिम निकाय, 35 : 11 एफ़एफ़.

⁹⁶ लैम्बार्त शिमथोसेन (1999) : 48-50.

⁹⁷ रूपर्ट गेथिन (2008) : 39-40.

जाहिर है कि सावरकर की हिंसा को प्रतिष्ठित करने या उसे वैध ठहराने की परियोजना बुद्ध के अहिंसा-सिद्धांत के बरअक्स उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के दौरान गढ़े गये लोकप्रिय मिथकों से आगे निकल जाती है। उसे अपना औचित्य स्थापित करने के लिए कुछ और भी चाहिए। भारत का कथित तौर पर कमजोर होते जाना, भारत की जनता को पुरुषत्व की अतिरिक्त खुराक देने की जरूरत तथा भारत में क्षत्रियत्व की पुनर्स्थापना करना— इन शताब्दियों का खास कार्यक्रम था। हिंसा के इस सार्वभौम उत्सवीकरण का बुद्ध की शिक्षाओं और उनके परिणामों से कुछ खास लेना-देना नहीं है। एक बार फिर दोहरा दूँ कि हिंसा की अनिवार्यता का यह मॉडल बुद्ध की अहिंसा के विचार में कोई परिष्कार नहीं करता। उसे अहिंसा के विचार का प्रतिरोधी बिंदु भी नहीं माना जा सकता। अगर बंकिम, विवेकानंद, अरविंद तथा सावरकर समस्त जीवन को सुसंगत बनाने के लिए हिंसा को एक ज़रूरी संयोजक तत्त्व के रूप में महसूस करते थे तो उनका यह विचार तीन विशिष्ट स्रोतों से उपजा था। इसके पीछे पहला तत्त्व था राजसी और औपनिवेशिक प्रभुओं की हिंसा का अनुकरण। इसमें दूसरा तत्त्व था आधुनिक राष्ट्रवाद जो मूलतः हिंसा, विशिष्टता-बोध, ताक़त, आज्ञाकारिता और विवेक को औज़ार बना देने की मानसिकता पर टिका है। हिंसा की इस उत्सवधर्मिता में तीसरा तत्त्व था धर्म का पुनरुद्घोष जिसके लिए आंशिक तौर पर भारतविद् और प्राच्यवादी विद्वान भी ज़िम्मेदार हैं। दूसरे ढंग से कहें तो एक सामान्य, सुलभ और अनिवार्य हिंसा के मॉडल में बुद्ध को घसीटना तभी सार्थक हो सकता है जब इसका उद्देश्य अहिंसा का समूल खण्डन करना हो।

संसंख में एक पूर्व-स्थापित मॉडल का अनुसरण किया गया है। यह मॉडल बंकिम के *आनंदमठ* में देखा जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि शत्रुओं को उसी तरह पराजित किया जाना चाहिए जिस तरह भगवान विष्णु ने राक्षसों का संहार किया था :

हम बया के इन घोंसलों को तोड़ने के बारे में लम्बे समय से सोचते रहे हैं, विदेशी मुसलमानों के शहर को तबाह करके उसे नदी में फेंक देने— सूअरों के इस बाड़े को जला कर अपनी मातृभूमि को पुनः शुद्ध करने का समय आ गया है! हमारे गुरुओं का गुरु, असीम ज्ञान से परिपूर्ण, पवित्र सन्मार्गी, सबका कल्याणाकांक्षी, हमारी जन्मभूमि का हितैषी, सनातन संहिता के पुनर्घोष हेतु कटिबद्ध, विष्णु के लौकिक रूप का सारतत्त्व, हमारी मुक्ति का वह मार्ग— आज मुसलमानों के कारागार में है। क्या हमारी तलवारों की धार भोंथरी हो गयी है ... क्या उसके हृदय में साहस नहीं बचा है? भाइयो, 'ओ हरि! मुरा, मधु और कैटभ के वैरी' का नाम पुकारो। हम विष्णु की पूजा करते हैं, जिसने मधु और कैटभ का संहार किया था; हिरण्यकश्यपु, कंस, दंतवक्र और शिशुपाल जैसे

अगर बंकिम, विवेकानंद, अरविंद तथा सावरकर समस्त जीवन को सुसंगत बनाने के लिए हिंसा को एक ज़रूरी संयोजक तत्त्व के रूप में महसूस करते थे तो उनका यह विचार तीन विशिष्ट स्रोतों से उपजा था। इसके पीछे पहला तत्त्व था राजसी और औपनिवेशिक प्रभुओं की हिंसा का अनुकरण। इसमें दूसरा तत्त्व था आधुनिक राष्ट्रवाद जो मूलतः हिंसा, विशिष्टता-बोध, ताक़त, आज्ञाकारिता और विवेक को औज़ार बना देने की मानसिकता पर टिका है। हिंसा की इस उत्सवधर्मिता में तीसरा तत्त्व था धर्म का पुनरुद्घोष जिसके लिए आंशिक तौर पर भारतविद् और प्राच्यवादी विद्वान भी ज़िम्मेदार हैं।

शक्तिशाली दानवों का वध किया था; जिसके चक्र के महागर्जन से शम्भू जैसा अमर देवता भयभीत हो गया था; उस अजेय, युद्ध में विजय प्रदान करने वाले ...

आओ, विदेशियों का नगर मिट्टी में मिला दें! आओ, सूअर के उस बाड़े को अग्नि से पवित्र करके नदी में विसर्जित कर दें! आओ इस चिड़िया (टेलर बर्ड) के घोंसले की धज्जियाँ बिखेर कर हवा में उड़ा दें! 'ओ हरि! मुरा, मधु और कैटभ के वैरी' का नाम पुकारो! ⁹⁸

ज्ञानानंद द्वारा विष्णु के अनुकरण का यह आह्वान महेंद्र और सत्यानंद के बीच वैष्णव आचरण की वास्तविक प्रकृति के संबंध में चल रहे वार्तालाप से और प्रबल हो जाता है। महेंद्र अब भी यही मानता है कि वैष्णव आचरण अहिंसक होना चाहिए। सत्यानंद इसमें 'सुधार' की बात करता है :

अहिंसा झूठे वैष्णव धर्म का चिह्न है जो बौद्धों के अनीश्वरवादी आचरण के अनुकरणस्वरूप विकसित हुआ था। प्रामाणिक वैष्णव धर्म का चिह्न आसुरी शक्ति को पराजित करना और संसार की रक्षा करना है। क्या विष्णु ही संसार का रक्षक नहीं है! उसी ने केशी, हिरण्यकशिपु, मधु, कैटभ, मुरा, नारक आदि तथा रावण जैसे नरपिशाच और कंस, शिशुपाल व अन्य राजाओं का युद्ध में संहार किया था। वही विष्णु विजय का वाहक और दाता है। ⁹⁹

गौरतलब है कि इस उद्धरण में यह कोशिश की जा रही है कि हत्या करने की शक्ति और वैधता कुछ ब्रह्मचारी संन्यासियों को प्रदान कर दी जाए। यह वही शक्ति है जिस पर एक समय केवल विष्णु का अधिकार माना जाता था तथा जिसका उपयोग राक्षसों का संहार करने के लिए किया जाता था। यहाँ इसका आशय यह है कि पवित्र संगठन के संतों के सामने भी राक्षसी शत्रुओं का संकट खड़ा हो गया है और उनके पास यह पवित्र अधिकार होना चाहिए कि भगवान की तरह वे भी इन समकालीन शत्रुओं का संहार कर सकें। दरअसल, उन्नीसवीं शताब्दी में हिंसा का विमर्श इसी बिंदु से बदलना शुरू होता है। यह हिंसा की सामान्यता के उभार और उसके इस्तेमाल पर लगी शेष सीमाओं के अंत को इंगित करता है। यह इस बात का सूचक भी है कि हिंसा और उसका उपयोग अब सम्प्रभु अथवा राज्य का विशेषाधिकार नहीं रह गया था। और न ही अब किसी पारम्परिक जाति को हिंसा के वैध इस्तेमाल का एकमात्र अधिकारी स्वीकार किया जा रहा था।

बंकिम का विश्व-बोध सावरकर को पूरी तरह स्वीकार्य है। किसी व्यक्ति या समूह को शत्रु घोषित करके उसका विनाश कर देना सावरकर को भी रुचता है। हिंसा को आमफ्रहम और सुलभ बना देना भी सावरकर की योजना का अंग है। अहिंसा के संबंध में 'बौद्धों की निरीश्वरवादी आचरण-संहिता' जैसी टिप्पणियाँ सावरकर के झुकाव से पूरी तरह मेल खाती हैं। परंतु इन समस्त समानताओं के बावजूद *आनंदमठ* की तरह सावरकर हिंसा का केंद्र-बिंदु संन्यास के क्षेत्र में नहीं रखना चाहेंगे। इस दृष्टि से, संसंख एक ऐसा प्रयास है जो हिंसा को पुनर्प्रतिष्ठित करते हुए उसकी वैधता घरेलू दायरे में स्थापित करता है। ¹⁰⁰ उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में धर्म के पुनर्घोष के अन्य रूपों की तरह इसका मंतव्य भी धर्म का एक ऐसा विवेक और तर्क आश्रित संस्करण गढ़ना है जो सामाजिक यथार्थ में कोई बदलाव किये बगैर सम्प्रभुता और राज्य की ज़रूरतें पूरी कर देता हो। अगर इस सामाजिक यथार्थ में दमन, स्वेच्छाचारी शक्ति, बहिष्करण और भेदभाव जैसे तत्त्व अंतस्थ हैं तो इससे हिंसा की सर्वव्यापकता और वैधता तथा उसके इस्तेमाल की प्रक्रिया ही मजबूत होती है। इसके परिणामस्वरूप हिंसा को राष्ट्र के प्रति निष्ठा तथा अपनी मातृ/पितृ भूमि के प्रति प्रेम के नाम पर हमेशा जायज़ ठहराया जा सकता है।

⁹⁸ बंकिमचंद्र चटर्जी (2005) : 169.

⁹⁹ वही : 179.

¹⁰⁰ उन्नीसवीं सदी के बाद गृहस्थी का आदर्श ढर्रा मानव धर्मशास्त्र तथा कुछ निश्चित धर्मसूत्रों से प्रेरित रहा है. वह मूलतः ब्राह्मणवादी और ऊँची जातियों के खास आचारों-विचारों पर आधारित है जिसमें पुरुष की स्थिति सर्वप्रमुख है.

जिस तरह *आनंदमठ* में चिकित्सक सत्यानंद को सम्बोधित करता है, उसी तरह सावरकर संसंख में धर्म को एक पात्र बना कर प्रस्तुत करते हैं। नाटक के अंतिम दृश्य में धर्म बुद्ध और विक्रम सिंह, दोनों को सम्बोधित करता है।¹⁰¹ तथागत बुद्ध के जीवन की रक्षा करने के लिए धर्म विक्रम सिंह की प्रशंसा करता है और इसी क्रम में निर्वाण के प्रश्न पर चर्चा करने लगता है। क्या चण्ड की हत्या करने के बावजूद विक्रम निर्वाण का अधिकारी हो सकता है? धर्म स्पष्टता के साथ कहता है कि बुद्ध का शांति-संदेश सरल था। इस संदेश का देवताओं, राक्षसों, मनुष्यों तथा पाताल लोक के प्राणियों, आर्यों और अनार्यों पर ही नहीं बल्कि पूरे मानव-समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके लिए बुद्ध हमेशा आराधना और सम्मान के पात्र रहेंगे। लेकिन निर्वाण का अधिकारी विक्रम भी है क्योंकि वह धर्म का मर्म समझता था और मनुष्यों के कल्याणार्थ उसने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। लेकिन विक्रम किसी का आराध्य नहीं होगा और उसका यह महान त्याग लोगों की स्मृति से विलुप्त हो जाएगा। इसके बाद धर्म भविष्य की ओर संकेत करते हुए घोषणा करता है कि विक्रम के इस भगीरथ प्रयत्न की विस्मृति शाक्यों का अस्तित्व समाप्त कर देगी। इसी प्रकार, अस्त्रों की शक्ति के प्रति उदासीनता बरतने, खेती का परित्याग करने तथा यौन संबंधों से विमुखता के कारण आर्यावर्त को भारी विपत्ति का सामना करना पड़ेगा तथा वह यवनों, हूणों, शकों अथवा राक्षसों द्वारा नष्ट कर दिया जाएगा।¹⁰² महाकाल की योजना में शाक्यों के राष्ट्र का विध्वंस एक क्षुद्र सा प्रयोग होगा इसलिए इस घटना को आर्यावर्त पर आने वाली गम्भीर विपत्ति की पूर्व-सूचना के रूप में देखा जाना चाहिए। संन्यास के अनेकानेक इहलौकिक और पारलौकिक लाभ हो सकते हैं परंतु समस्याओं और संकटों का निदान शक्ति की पूजा और विक्रम सिंह द्वारा प्रदर्शित कर्मयोग द्वारा ही सम्भव है। धर्म अपनी इस भविष्यवाणी को विराम देते हुए संन्यास और विक्रम सिंह के कर्मयोग, दोनों को ही अनुकरणीय व हितकारी बताता है, परंतु अंत में यह कहता है कि विक्रम का कर्मयोग संन्यास की तुलना में श्रेष्ठतर है।

इस तरह, संसंख की रचना का मूल मंतव्य यही है। इस नाटक के जरिये सावरकर हिंसा को विधि, नैतिकता तथा राजनीति की आधारभूमि के रूप में चिह्नित करते हुए उसके लिए वैधता जुटाने का काम करते हैं। इसके पीछे उनका प्रयत्न हिंसा को अहिंसा के प्रश्न और नैतिकता तथा नैतिक दर्शन से मुक्त करना था ताकि हिंसा को स्वतंत्र हैसियत प्रदान की जा सके। हालाँकि अपने इस प्रयास में सावरकर सफल भी सिद्ध हुए हैं परंतु इस नाटक में उन्होंने जिस तरह बुद्ध को बलि का बकरा बनाने की कोशिश की है वह न इतिहाससम्मत है, न प्रविधि की दृष्टि से उचित है। आज सावरकर की यह दलील एक उग्र राष्ट्रवादी नारे के रूप में ज़िंदा है कि बुद्ध की अहिंसा के कारण ही हिंदुओं में स्त्रैणता घर कर गयी थी। लेकिन इस उक्ति की जड़ें हमारे समकालीन इतिहास में निहित हैं। समग्रता में देखें तो यह रचना पुनः इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि हिंदू राष्ट्रवाद किन भ्रामक और मिथ्या आधारों की भित्ति पर टिका है।

(मूलतः *सोसियोलॉजी लुक्स एट द ट्वेंटी-फ़र्स्ट सेंचुरी*, आइआइएस ऐनलज़, सं. 13 में प्रकाशित)

संदर्भ

आर.पी. गोल्डमैन (1980), 'राम: सहलक्ष्मण: साइकॉलोजिकल ऐंड लिटरेरी आस्पेक्ट्स ऑफ़ द कम्पोज़िट हीरो ऑफ़ वाल्मीकीय रामायण', *जर्नल ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी*, अंक 8.

एल्फ़ हिल्लेबेतेल (2011), *धर्मा: इट्स अर्ली हिस्ट्री इन लॉ, रिलीजन, ऐंड नैरेटिव*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

¹⁰¹ *सावरकर समग्र*, खण्ड 4 : 307-308.

¹⁰² आर्य का शाब्दिक अर्थ योग्य अथवा कुलीन होता है। आर्यवर्त का आशय उस भू-भाग से है जहाँ आर्य रहते हों.



एवियाटार शुल्मैन (2010) 'माइंडफुल विजडम: द सती पत्थान सुत्त ऑन माइंडफुलनेस, मेमरी ऐंड लिबेरेशन', *हिस्ट्री ऑफ रिलीजंस*, अंक 49, सं. 4.

एवियाटार शुल्मैन (अप्रकाशित लेख), 'रिफ्लेक्शंस ऑन द सायकोलॉजिकल सोल्यूशंस टू मेटाफिजिकल प्रॉब्लम्स इन द पारायण-वग.',

कलेक्टिव वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद (1999, बारहवाँ संस्करण), आठवाँ खण्ड, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता.

ग्रेगरी शोपेन (1997), 'आर्केयोलॉजी ऐंड प्रोटेस्टेंट प्रीसपोजिशन इन द स्टडी ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म', *बोन्स, स्टोन्स, ऐंड बुद्धिस्ट मंक्स: कलेक्टिव पेपर्स ऑन द आर्केयोलॉजी, ऐपिग्राफी ऐंड टेक्स्ट्स ऑफ मॉनास्टिक बुद्धिज्म इन इण्डिया*, युनिवर्सिटी ऑफ हवाई प्रेस, हवाई.

जॉन बी. कार्मन एवम् फ्रेडेरिक मार्गलिन (1985), *प्योरिटी ऐंड ऑसपीशसनेस इन इण्डियन सोसाइटी*, ई.जे. ब्रिल, लीडन.

जे.सी. हीस्टरमैन (1984), 'नॉन-वायलेंस ऐंड सैक्रोफाइस', *इण्डोलॉजिका टोरेरिनेंसिया*, अंक 12.

डेविड शुल्मैन (1984), 'द एनिमी विदिन : आइडियलिज्म ऐंड डिसेंट इन साउथ इण्डियन हिंदुइज्म', एस.एन. ईज्जनस्तात, रिडवेन काहाने और डेविड शुल्मैन (सं.), *ऑर्थोडॉक्सी, हेट्रोडॉक्सी ऐंड डिसेंट इन इण्डिया*, मॉटन पब्लिशर्स, बर्लिन, न्यूयॉर्क, एम्सटर्डम.

डोनाल्ड आर. डेविस, जूनियर (2010), *द स्पिरिट ऑफ हिंदू लॉ*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पीटर एल. बर्जर (1990), *द सैक्रेड कैनापी: ऐलीमेंट्स ऑफ अ सोसियोलॉजिकल थियरी ऑफ रिलीजन*, एंकर बुक्स, न्यूयॉर्क.

पैट्रिक ऑलिवेल (1986), *रिननसिएशन इन हिंदुइज्म: अ मिडिवल डिबेट, वॉल्यूम वन: द डिबेट ऐंड द अद्वैत आग्यूर्मेट*, द नॉबिली रिसर्च लाइब्रेरी पब्लिकेशंस, वियना.

..... (1987), 'शंकरस कमेट्री ऑन बृहदारण्यक उपनिषद् 3.5.1.', *रिननसिएशन इन हिंदुइज्म: अ मिडिवल डिबेट, वॉल्यूम II: द विशिष्टाद्वैत आग्यूर्मेट*, द नॉबिली रिसर्च लाइब्रेरी पब्लिकेशंस, वियना.

..... (2004), *द लॉ कोड ऑफ मनु : अ न्यू ट्रांसलेशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.

..... (2004), *द आश्रम सिस्टम: द हिस्ट्री ऐंड हर्मेन्युटिक्स ऑफ रिलीजस इंस्टीट्यूशन*, मुंशी मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली.

..... (2008), *उपनिषद्स: अ न्यू ट्रांसलेशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.

..... (2009), *धर्मसूत्राज*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.

..... (2012), 'डिकंस्ट्रक्शन ऑफ द बॉडी इन इण्डियन एसेटीसिज्म', (सं.), *एसेटिक्स ऐंड ब्राह्मणस: स्टडीज इन आइडियोलॉजीज ऐंड इंस्टीट्यूशंस*, एंथम प्रेस, नयी दिल्ली.

..... (2012), *एसेटिक्स ऐंड ब्राह्मिंस: स्टडीज इन आइडियोलॉजीज ऐंड इंस्टीट्यूशंस*, एंथम प्रेस, नयी दिल्ली.

..... (2012), 'इंट्रोडक्शन टू रिननसिएशन इन द हिंदू ट्रेडिशन', *एसेटिक्स ऐंड ब्राह्मिंस: स्टडीज इन आइडियोलॉजीज ऐंड इंस्टीट्यूशंस*, एंथम प्रेस, नयी दिल्ली.

फाइलिस ग्रैनॉफ (1984), 'हॉली वारियर्स : अ प्रिलिमिनरी स्टडी ऑफ सम बायॉग्रेफ़ीज ऑफ सेंट्स ऐंड किंग्स इन द क्लासिकल इण्डियन ट्रेडिशन', *जर्नल ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी*, अंक 12.

बंकिमचंद्र चटर्जी (2005), *आनंदमठ और सैक्रेड ब्रदरहुड*, अनु. जूलियस लिपनेर, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ब्रायन के. स्मिथ (1994), *क्लासीफाइंग द युनिवर्स: द ऐंशेंट इण्डियन वर्ण सिस्टम ऐंड द ऑरिजिन ऑफ कास्ट*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क तथा लंदन.

बिनाय कुमार सरकार (1921), 'द हिंदू थियरी ऑफ स्टेट', *पॉलिटिकल साइंस क्वार्टर्ली*, अंक 36, (सं.), 1 (मार्च).

बोरिस ओगुर्बेनिन (2003), 'ऑन द रिटॉरिक ऑफ वायलेंस', डेनिस वाइडल, गाइल्स टैराबॉट और इरिक मेयेर (सं.), *वायलेंस/नॉन-वायलेंस: सम हिंदू पर्सपेक्टिव्ज़*, मनोहर, नयी दिल्ली.

भिव्कु बोधि (1995), *द मिडिल लेंथ डिस्कोर्सेज ऑफ द बुद्धा: अ न्यू ट्रांसलेशन ऑफ द मज्झिम निकाय*, विजडम पब्लिकेशंस, बॉस्टन.

..... (2012)(अनु.), *द न्यूमेरिकल डिस्कोर्सेज ऑफ द बुद्धा : अ ट्रांसलेशन ऑफ द अंगुत्तर निकाय*, मूल



स्रोत: पाली, विज्ञडम पब्लिकेशंस, बॉस्टन.

मॉरिस वाल्शे (1987) (अनु.), *दस हैव आइ हर्ड, द लॉन्ग डिस्कोर्सेज ऑफ बुद्धा, दीघ निकाय*, मूल स्रोत : पालि, विज्ञडम पब्लिकेशंस, लंदन.

मैदेलीन बिआदो (2003), 'ऐंशेंट ब्राह्मिनिज्म, ऑन इम्पॉसिबल नॉन-वायलेंस', डेनिस वाइडल, गाइल्स टैराबॉट और इरिक मेयेर (सं.), *वायलेंस/नॉन-वायलेंस: सम हिंदू पर्सपेक्टिव्ज*, मनोहर, नयी दिल्ली.

मैरी डगलस (1994, पुनर्मुद्रित), *प्योरिटी ऐंड डेंजर : ऐन अनैलिसिस ऑफ द कंसेप्ट्स ऑफ पॉल्युशन ऐंड टैबू*, रौटलेज, लंदन तथा न्यूयॉर्क.

योहान ब्रॉंखुर्स्ट (1993), *द टू सोर्सेज ऑफ इण्डियन एसेटेसिज्म*, पीटर लैंग, बर्न.

रूपर्ट गेथिन (2008), 'महापरिनिब्बान-सुत्त', *सेइंग्स ऑफ द बुद्धा*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.

लैम्बार्त स्मिथॉसेन (1999), 'आस्पैक्ट्स ऑफ द बुद्धिस्ट एट्रिब्यूट टूवर्ड्स वार', जॉन ई.एम. हॉबेन तथा कैरेल आर. वान कूइज (सं.), *वायलेंस डिनाइड: वायलेंस, नॉन-वायलेंस ऐंड द रैशनलाइजेशन ऑफ वायलेंस इन साउथ एशियन कल्चरल हिस्ट्री*, ब्रिल, लीडन, बॉस्टन, कॉन.

लूडो रोचर (2012), *स्टडीज इन हिंदू लॉ ऐंड धर्मशास्त्र*, एंथम प्रेस, लंदन.

विनायक दामोदर सावरकर (2000-03), *सावरकर समग्र*, खण्ड 4, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली.

विनायक दामोदर सावरकर (2000-03), 'संगीत संन्यस्त खड्ग', *सावरकर समग्र*, खण्ड 4, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली.

वेलचेरु नारायण राव (1991), 'अ रामायण ऑफ देअर ऑन: वीमैस ऑरल ट्रेडिंशंस इन तेलुगु', पाउला रिचमैन (सं.), *मैनी रामायणाजः द डायवर्सिटी ऑफ अ नैरेटिव ट्रेडिशन इन साउथ एशिया*, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले तथा लॉस एंजेलेस.

सोसियॉलजी लुक्स एट द ट्वेंटी-फ़र्स्ट सेंचुरी (आइआइएस ऐनलज़, (सं.) 13), येहुदा इल्काना, शालिनी रेंडेरिया तथा ब्योर्न विटरॉक.

हरबर्ट स्पेंसर (1978), *द प्रिंसिपल्स ऑफ इथिक्स*, भूमिका: टिबोर आर. मैचन, खण्ड 1, लिबर्टी क्लासिक्स, इण्डियानापोलिस.

..... (2003), *द प्रिंसिपल्स ऑफ सोसियोलजी*, भूमिका: जॉनाथन एच. टर्नर, खण्ड 2, ट्रांज़ैक्शन पब्लिशर्स, न्यू ब्रंस्विक और लंदन.

हेंक डब्ल्यू. बोदेवित्ज (1999), 'हिंदू अहिंसा ऐंड इट्स रूट्स', इयान ई.एम. होउबेन और कैरेल आर. वान कूइज (सं.), *वायलेंस डिनाइड: वायलेंस, नॉन-वायलेंस ऐंड द रैशनलाइजेशन ऑफ वायलेंस इन साउथ एशियन कल्चरल हिस्ट्री*, ब्रिल, लीडन.

हैंस-पीटर श्मिट (1968), 'द ऑरिजिन ऑफ अहिंसा', *मेलांजे द'इंदिनिस्मे: अ ला मेमॉइर द लुई रेनो*, ई.डी. बोकार्द, पेरिस.